आधुनिक गद्य साहित्य - II

एम.ए. (हिंदी) द्वितीय सेमेस्टर : पेपर -2

(5) छोटे-छोटे वाक्य भावाभिव्यक्ति में सहायक हैं।

(6) 'खून खौलना', 'गले पर तलवार रखना', 'प्राणों की भिक्षा माँगना' आदि मुहावरों के प्रसंगानुकूल प्रयोग ने भाषा-सौन्दर्य में वृद्धि की है।

(7) ओज गुण और वीर रस का परिपाक है।

(8) भावात्मक शैली का प्रयोग हुआ है।

◆◆◆

आलोचनात्मक प्रश्न

1. 'चन्द्रगुप्त' की ऐतिहासिकता

1. जयशंकर प्रसाद विरचित नाटक 'चन्द्रगुप्त' की ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालिए। **(Most. Imp.)**

अथवा

'चन्द्रगुप्त' नाटक की ऐतिहासिकता सिद्ध कीजिए।

अथवा

'चन्द्रगुप्त' नाटक में इतिहास और कल्पना का सुंदर समन्वय हुआ है। इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं?

उत्तर—'चन्द्रगुप्त' की ऐतिहासिकता—विश्व की किसी भी भाषा में ऐतिहासिक नाटक की कोई ऐसी परिभाषा नहीं दी जा सकती जो उसकी सभी विशेषताओं को समेटने वाली हो, फिर भी भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने ऐतिहासिक नाटक को परिभाषित करने का प्रयास किया है। पाश्चात्य विद्वान् आई. रिवनर ने ऐतिहासिक नाटक को इतिहास के उद्देश्य को लेकर लिखी गई एक नाटकीय व्यवस्था कहा है। डॉ. धनंजय लिखते हैं—**"ऐतिहासिक नाटक इतिहासकार और नाटककार दोनों की निर्मितियों का एकीकरण है"**। इसी प्रकार डॉ. जगदीश जोशी लिखते हैं—**"ऐतिहासिक नाटक, नाटक के शरीर में इतिहास के प्राणों का समाहार है।"** उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि ऐतिहासिक नाटक की रचना इतिहास और नाटक के संयोग से होती है। इस प्रकार के नाटक की घटनाएँ, चरित्र तथा तथ्य भी इतिहास से लिए जाते हैं। इस सन्दर्भ में **डॉ. रामसेवक पांडेय** ने भी लिखा है—**"इतिहास और नाटक की सीमाओं को स्वीकार करते हुए ऐतिहासिक नाटककार प्राचीन कथानक को इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि प्राचीन वातावरण, तत्कालीन राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियाँ वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में सजीव हो उठे तथा साथ ही नाटकीय तत्त्वों का, रस सिद्धि और चरित्र-चित्रण का समन्वित नियोजन हो सके।...इतिहास की आत्मा को सुरक्षित रखते हुए अपनी सृजनात्मक प्रतिभा के द्वारा वह नाट्य सृष्टि करता है—जिसमें चरित्रों के विकास तथा समन्वित प्रभाव उत्पन्न करने पर, उसका ध्यान केन्द्रित रहता है। चरित्रों को वह स्वतन्त्र व्यक्तित्त्व प्रदान करता है जिससे उनमें सजीवता और शक्ति आ सके। नाट्य चित्र की रेखाएँ तो वह इतिहास से लेता है, पर उनमें रंग और सौन्दर्य अपनी कल्पना और रचनात्मक प्रतिभा द्वारा लाता है।"**

हिन्दी नाट्य साहित्य के विकास में जयशंकर प्रसाद का प्रवेश एक युगान्तरकारी घटना कही जा सकती है। प्रसाद की प्रतिभा ने हिन्दी नाट्य रचना को अधिक मौलिकता और कलात्मक प्रौढ़ता प्रदान की। उन्होंने न केवल एक नवीन नाट्य-शैली को जन्म दिया, बल्कि आगे के नाटककारों का भी मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने पश्चिम की नाट्य-शैलियों को अपनाते हुए हिन्दी नाट्य को भारतेन्दु युगीन धार्मिकता और पौराणिक रूढ़ियों से मुक्त किया। केवल 'कामना' और 'एक घूँट' को छोड़कर उन्होंने अन्य सभी ऐतिहासिक नाटक लिखे और भारत की तत्कालीन राष्ट्रीय चेतना को प्रमुख स्वर प्रदान किया, लेकिन उनके नाटकों में वर्तमान की अनेक समस्याओं की भी छाया देखी जा सकती है। उनके नाटकों में सांस्कृतिक धारा के अक्षुण्ण प्रवाह की भावना है, दार्शनिक चिंतन है तो स्वाभाविक चित्र कल्पना भी है, राष्ट्रीयता का आग्रह है तो जीवन के मूल तत्त्व की खोज भी है। वस्तुतः वे अपने नाटकों द्वारा भारत के अतीत गौरव का गान करना चाहते हैं। इसीलिए उन्होंने भारतीय इतिहास के गौरवपूर्ण अंशों को अपने नाटकों का आधार बनाया। उन्होंने ऐतिहासिक नाटक लिखने के लिए विभिन्न इतिहास और पुराण ग्रन्थों से सहायता प्राप्त की, लेकिन कहीं-कहीं वे कल्पना का सहारा भी लेते हुए दिखाई देते हैं। चन्द्रगुप्त नाटक की भूमिका में वे स्वयं लिखते

हैं–"प्रस्तुत नाटक के लेखन में विभिन्न इतिहास और पुराण-ग्रन्थों से सहायता ली है। बौद्ध ग्रन्थों में 'अट्ठकथा', 'महावंश' जैन ग्रन्थों में 'त्रिकांड-शेष' और 'हेमचन्द अभिधान', पुराणों में 'वायु पुराण' और 'विष्णु-पुराण', ग्रीक इतिहासकारों में 'डायोडोरस', 'सिल्यूकस', जस्टिनस स्ट्राबों एवं प्लूटार्क के नाम का उल्लेख प्रसाद जी ने किया है। साथ ही 'कथासरित्सागर', 'अर्थशास्त्र', 'कामन्दकीय', 'नीतिसार', 'मुद्राराक्षस' तथा मैक्समूलर, टॉड और विन्सेट स्मिथ से भी पर्याप्त सहायता ली है। इस सब के आधार पर 'चन्द्रगुप्त' नाटक का सृजन किया है।"

किसी भी ऐतिहासिक नाटक में कथानक, पात्र और वातावरण का विशेष महत्त्व रहता है। नाटककार ऐतिहासिक कथानक को आधार बनाकर भी बिना कल्पना के उसे साहित्यिक रूप प्रदान नहीं कर सकता। कथानक में इतिहास के रिक्त स्थानों की पूर्ति, लेखक की मौलिक खोज, जन-विश्वास तथा कल्पना द्वारा की जाती है। घटनाओं के अन्तः-बाह्य रूपों में सम्बन्ध स्थापित किया जाता है और कुछ प्रासंगिक कथाओं की भी सृजना करनी पड़ती है। निर्जीव और नीरस इतिहास में सजीवता तथा सरसता उत्पन्न करने के लिए कथानक में भावोद्वेग स्थल उत्पन्न किए जाते हैं। इसी प्रकार ऐतिहासिक पात्रों में मानवीय संवेदना उत्पन्न करके उनको प्राणवान बनाया जाता है। तदर्थ कुछ काल्पनिक पात्रों की भी सृष्टि की जाती है, लेकिन ऐसा करते समय ऐतिहासिक पात्रों और ऐतिहासिक कथावस्तु के साथ काल्पनिक पात्रों का तालमेल बिठाया जाता है ताकि वे इतिहास विरोधी प्रतीत न हों। इसके साथ-साथ ऐतिहासिक नाटकों में ऐतिहासिक वातावरण का होना भी जरूरी है। किसी युग विशेष की सभ्यता, रहन-सहन, वेशभूषा, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियाँ, भाषा, मान्यताएँ आदि उस युग का ऐतिहासिक वातावरण कहा जा सकता है। ऐतिहासिक नाटक में इस वातावरण का विशेष महत्त्व होता है, क्योंकि यही नाटक के ऐतिहासिक स्वरूप को बनाए रखता है। ऐतिहासिक वातावरण का सम्बन्ध केवल रंगमंच से ही नहीं, अपितु कथावस्तु और पात्रों से भी होता है। वातावरण से ही इतिहास के पात्रों और घटनाओं की पहचान होती है।

पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि चन्द्रगुप्त एक ऐतिहासिक नाटक है। इस नाटक की रचना में प्रसाद जी ने इतिहास ग्रन्थों, शिलालेखों, ताम्रपत्रों, बौद्ध ग्रन्थों, कथा सरित्सागर, चाणक्य कथा, मुद्राराक्षस नाटक आदि साहित्यिक ग्रन्थों का सहारा लिया है। इसके साथ-साथ नाटककार ने तत्कालीन उपाख्यानों और जन-श्रुतियों को भी महत्त्व प्रदान किया है। प्रस्तुत नाटक के कथानक में मुख्य तीन घटनाएँ हैं–

(1) सिकन्दर का भारत पर आक्रमण।

(2) नन्द वंश का उन्मूलन।

(3) सिल्यूकस की पराजय।

इसके साथ-साथ नाटककार ने नन्द के शासन के अत्याचार, शकटार तथा सेनापति मौर्य को बन्दी बनाना, सिकन्दर की दाण्ड्यायन से भेंट तथा चाणक्य और राक्षस के मध्य राजनीतिक संघर्ष की घटनाओं को भी जोड़ दिया है। मूल कथा के साथ-साथ ये सब घटनाएँ भी इतिहास द्वारा प्रमाणित हैं। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि नाटककार ने बड़ी सतर्कता के साथ इतिहास की रक्षा की है। लेकिन हमें यह ध्यान रखना होगा कि नाटक कोरा इतिहास नहीं हो सकता, उसमें इतिहास को कलात्मक और नाटकीय स्वरूप प्रदान करने के लिए कुछ परिवर्तन भी करना पड़ता है और कल्पना का आश्रय भी लेना पड़ता है। वस्तुतः चन्द्रगुप्त नाटक में इतिहास और कल्पना का समुचित मिश्रण किया गया है। नाटक की प्रथम घटना पूर्णतः काल्पनिक है, लेकिन यह घटना नाटक के कार्य को प्रस्तुत करती है और उसके आरम्भ को आकर्षक बनाती है। साथ ही यह आम्भीक जैसे देशद्रोही के प्रति सिंहरण और चन्द्रगुप्त के क्रोध को भी अभिव्यक्त करती है। चाणक्य के निर्वासन की घटना भी कल्पित है। लेकिन नाटककार इस घटना द्वारा चाणक्य को मगध का निवासी सिद्ध करना चाहता है। इसी प्रकार चाणक्य के अपमान की ऐतिहासिक घटना को रूप भी नाटक के घटनाक्रम को गम्भीरता प्रदान करने के लिए प्रस्तुत किया गया है। इसी सन्दर्भ में अलका द्वारा सेतु का मानचित्र बनाना, सिल्यूकस-सिंहरण संघर्ष तथा अलका को बन्दी बनाया जाना आदि काल्पनिक घटनाएँ हैं, लेकिन ये घटनाएँ नाटक में वर्णित राजनैतिक संघर्ष को और तीव्रता प्रदान करती हैं। यहाँ प्रसाद जी ने मुद्राराक्षस के पर्वतक और पर्वतेश्वर को एक ही व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है। लेखक की यह घटना घटनाक्रम को आगे बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुई है। पुनः सिल्यूकस द्वारा चन्द्रगुप्त की रक्षा की घटना भी काल्पनिक है। प्रसाद ने चन्द्रगुप्त और सिल्यूकस की भावी सन्धि की भूमिका के रूप में इस घटना को समाहित किया है और साथ ही चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया के परिणय के लिए नाटकीय परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी हैं। वैसे ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जो यह सिद्ध करे कि सिकन्दर के आक्रमण के समय सिल्यूकस की पुत्री भी साथ थी। इसी प्रकार, फिलिप्स के साथ चन्द्रगुप्त के संघर्ष की कथा पूर्णतः काल्पनिक है, लेकिन यह अत्यधिक नाटकीय है। पुनः पर्वतेश्वर द्वारा

सिंहरण और अलका को बन्दी बनाने का प्रसंग भी काल्पनिक है। लेखक ने सिंहरण, अलका के प्रेमभाव को विकसित करने के लिए ही यह काल्पनिक प्रसंग तैयार किया है। साथ ही वह पर्वतेश्वर के पतन की ओर भी संकेत करना चाहता है। इसी प्रकार कल्याणी के प्रति चन्द्रगुप्त का प्रणय प्रस्ताव और चाणक्य द्वारा राक्षस को धमकी देना आदि सभी घटनाएँ काल्पनिक हैं। पुनः मालव दुर्ग के युद्ध में घायल सिकन्दर सम्बन्धी घटना के ऐतिहासिक रूप में परिवर्तन किया गया है। ऐसा इसलिए किया गया है ताकि पर्वतेश्वर के प्रति सिकन्दर द्वारा दिखाई गई उदारता का कर्जा चुकाया जाए। सिंहरण-अलका का विवाह और उसमें सिकन्दर का शामिल होना आदि सब कुछ काल्पनिक हैं। चाणक्य द्वारा पर्वतेश्वर को आत्महत्या से रोकने के प्रसंग भी काल्पनिक हैं। सुवासिनी के प्रति नन्द की कामुकता, राक्षस द्वारा उसकी रक्षा आदि घटनाएँ भी काल्पनिक हैं। पुनः शकटार की मुक्ति की घटना भले ही ऐतिहासिक है, लेकिन लेखक ने इसे अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए कुछ परिवर्तन कर दिए हैं। कल्याणी द्वारा पर्वतेश्वर का वध करना और फिर स्वयं आत्महत्या करना यह प्रसंग पूर्णतया काल्पनिक है, लेकिन कथानक के उद्देश्य के लिए अनिवार्य भी है। इसी प्रकार सुवासिनी से जुड़ी सभी घटनाएँ काल्पनिक हैं, लेकिन ये घटनाएँ कथानक को गति प्रदान करती हैं और नाटक को रोचक बनाती हैं। यही नहीं, तीसरे और चौथे अंकों को जोड़ने के लिए लेखक ने कुछ और भी काल्पनिक घटनाओं को जोड़ने की योजना की है। इस सन्दर्भ में डॉ. शान्ति स्वरूप गुप्त ने लिखा भी है—**"चाणक्य की कथा का ऐतिहासिक आधार तो है, परन्तु जिस रूप में वह नाटक में प्रस्तुत की गई है। वह कथासरित्सागर पर आधारित न होकर चाणक्य कथा से ली गई प्रतीत होती है। नन्द द्वारा मौर्य सेनापति और उनकी पत्नी के बन्दी बनाए जाने की घटना चाणक्य कथा से ली गई है।.... विजयोत्सव सम्बन्धी आधार मुद्राराक्षस है। दाण्ड्यायन और सिकन्दर के बीच होने वाली बातचीत अविकल रूप से ग्रीक इतिहास से ली गई है। नाटक के दूसरे अंक के दूसरे दृश्य का युद्ध मगध ले जाना भी ऐतिहासिक है तथा उसका आधार मुद्राराक्षस है।"** इस प्रकार हम देखते हैं कि भले ही इस नाटक के कथानक में कल्पना प्रसंगों का नियोजन किया गया है, लेकिन इतिहास की स्वाभाविकता का पूरा ध्यान रखा गया है। नाटक की कथावस्तु में जितने भी नाटकीय प्रयोग किए गए हैं, उनसे इतिहास कहीं भी विकृत नहीं हुआ।

चन्द्रगुप्त नाटक में यदि कुछ ऐतिहासिक पात्र हैं तो कुछ काल्पनिक पात्र भी हैं। नाटक में चन्द्रगुप्त, चाणक्य, पर्वतेश्वर, आम्भीक, राक्षस, नन्द, वररुचि, सिकन्दर, सिल्यूकस, फिलिप्स, मेगस्थनीज और दाण्ड्यायन आदि ऐतिहासिक पात्र हैं, परन्तु सिंहरण, अलका, मालविका, कल्याणी, सुवासिनी आदि काल्पनिक पात्र हैं। ऐतिहासिक पात्रों के साथ-साथ इन काल्पनिक पात्रों की योजना भी इस प्रकार से की गई है कि वे नाटक के विकास में सहायक सिद्ध हुए हैं। कथा के साथ इनका समायोजन भी इस प्रकार से किया गया है कि वे काल्पनिक लगते ही नहीं। काल्पनिक पात्रों की अपनी वैयक्तिकता है और जिस प्रकार ये इसका उपयोग करते हैं उसके कारण नाटक में इनकी सार्थकता प्रतीत होती है। किस पक्ष को कब और कहाँ नियोजित किया जाये कि नाटकीय शिल्प में वृद्धि हो, प्रसाद इसे पहचानते हैं। ऐतिहासिक घटना प्रसंगों में उनके आचरण तनिक भी गैर-मौजूद नहीं लगते, अगर कहा जाये कि ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का निर्माण भी इनमें हुआ है, तो शायद गलत न होगा। अलका और सिंहरण के क्रिया-कलाप नाटक में ऐतिहासिक वातावरण निर्मित करने में सहयोग देते हैं। इस प्रकार, हम देखते हैं कि प्रस्तुत नाटक में लेखक ने विभिन्न पात्रों के प्रेम-प्रसंगों के बारे में भी कल्पना का प्रयोग किया है। ऐसा करने से नाटक की कलात्मकता में वृद्धि हो गई है। उदाहरण के रूप में काल्पनिक पात्र सुवासिनी के प्रति चाणक्य के रागात्मक सम्बन्ध को दिखाया गया है। इससे इतिहास प्रसिद्ध चाणक्य के चरित्र में थोड़ा-बहुत परिवर्तन अवश्य हो गया है, लेकिन ऐसा करने में ऐतिहासिक चाणक्य अधिक संवेदनशील और मानवीय बन गया है। परन्तु यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि नाटककार ने पर्वतेश्वर और राक्षस जैसे ऐतिहासिक पात्रों के प्रति न्याय नहीं किया। लेखक ने इतिहास के पर्वतेश्वर और मुद्राराक्षस के पर्वतक को एक बनाकर उसे शराबी, विलासी और बहानेबाज बना दिया है, जो कि इतिहास प्रसिद्ध योद्धा और देश-भक्त पौरुष से मेल नहीं खाता। नाटक के उद्देश्य को सामने रखते हुए लेखक ने राक्षस के स्वरूप को भी काफी विकृत कर दिया है, बल्कि सुवासिनी के चक्कर में पड़कर वह चाणक्य के सामने तुच्छ पात्र दिखाई देता है, जबकि ऐतिहासिक दृष्टि से राक्षस का व्यक्तित्त्व बहुत ही ऊँचा और एक महान् राजनीतिज्ञ का है।

कविवर प्रसाद ने अपने ऐतिहासिक नाटकों में तत्कालीन वातावरण तथा परिस्थितियों की ओर विशेष ध्यान दिया है। चन्द्रगुप्त नाटक को पढ़ने से तत्कालीन राजनीति का पूरा परिचय मिल जाता है। उस समय उत्तरापथ में छोटे-छोटे राज्य थे, कुछ छोटे-छोटे गणतन्त्र प्रदेश भी थे जो अकसर आपस में लड़ते रहते थे। नाटककार ने इतिहास के आधार पर इन खण्ड राज्यों और गणतन्त्रों की परस्पर कलह का वर्णन किया है। यही नहीं, नाटककार ने बौद्ध धर्म और वैदिक धर्म के बीच के संघर्ष पर भी प्रकाश डाला है। उदाहरण के रूप में नन्द बौद्ध धर्म को प्रश्रय देता है तो चाणक्य ब्राह्मण धर्म का समर्थक है। उस समय अध्ययन-अध्यापन के लिए गुरुकुलों की व्यवस्था थी। इन गुरुकुलों में कठोर नियमों का पालन करना पड़ता था। जो भी विद्यार्थी

इन गुरुकुलों में पढ़ता था उसे राजवृत्ति प्राप्त होती थी। तक्षशिला के गुरुकुल से यही स्पष्ट होता है। इस नाटक को पढ़ने से यह भी पता चलता है कि तत्कालीन समाज में नारियों की स्थिति काफी अच्छी थी। सुशिक्षित नारियाँ न केवल राज सभा में अपने विचार प्रकट कर सकती थीं, बल्कि आवश्यकता पड़ने पर युद्ध में भी भाग लेती थीं। युद्ध के समय किसान और सामान्य जनता अपने प्रतिदिन के कामों में व्यस्त रहते थे। सेनाओं में हाथी, घोड़े, पैदल, रथ आदि का प्रयोग होता था और नौ सेना की भी चर्चा हुई है। व्यापारी लोग देश के अलग-अलग भागों में व्यापार करने जाते थे। इसके साथ-साथ नाटककार ने तत्कालीन लोगों की वेश-भूषा, अस्त्र-शस्त्र, आचार-विचार पर भी समुचित प्रकाश डाला है। **डॉ. जगन्नाथ शर्मा** ने इस सम्बन्ध में उचित ही लिखा है–**"घटनाओं और स्थितियों को इस प्रकार से सजाया गया है कि इतिहास की संगति से नाटक के चरित्र विकास का सामंजस्य होता चले, वस्तु-विन्यास के इसी सौष्ठव के कारण नाटकीय समष्टि प्रभाव का जितना सुन्दर और सुसंगत प्रयोग इस नाटक में हो सका, उतना लेखक की किसी अन्य रचना में नहीं।"**

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रस्तुत नाटक में कथावस्तु, पात्र, चरित्र-चित्रण तथा वातावरण आदि की दृष्टि से ऐतिहासिक का निर्वाह किया गया है। प्रसाद जी ने कल्पना का प्रयोग केवल वहीं किया है जहाँ उनको प्रामाणिक इतिहास की सामग्री प्राप्त नहीं हुई। विशेषकर चन्द्रगुप्त, मगध के सम्राट नन्द, चाणक्य, पर्वतेश्वर आदि पात्रों की योजना पूर्णतया इतिहास के आधार पर की गई है। नाटककार ने तत्कालीन समाज-व्यवस्था, रणनीति, शासन-व्यवस्था, राजनीति तथा संस्कृति को बड़ी प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत किया है। इस सन्दर्भ में डॉ. धनंजय ने उचित ही लिखा है–**"जयशंकर प्रसाद ने जहाँ इतिहास ग्रन्थों का सहारा लिया है, मूल उत्सों जैसे शिलालेखों, ताम्रपत्रों आदि का इतिहासकार की भाँति अध्ययन किया है, वहीं उपाख्यानों, किंवदन्तियों में भी इतिहास की खोज की है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में दी गई उनकी भूमिका एक कुशल इतिहासकार की कृति है, जिसमें इतिहास की सम्पूर्ण सामग्री का उपभोग कर ठोस मान्यताओं के रूप में अपने निष्कर्ष निकाले गये हैं। ....इतिहासकार के रूप में उनका योगदान कम महत्त्व का नहीं, उनकी नाट्य रचनाओं में इतिहास का प्रामाणिक रूप सुरक्षित है।"**

◆◆◆

2. 'चन्द्रगुप्त' का नायकत्व

2. 'चन्द्रगुप्त' नाटक के नायकत्व पर प्रकाश डालिए। **(Most. Imp.)**

अथवा

आप 'चन्द्रगुप्त' नाटक का नायक किसे समझते हैं? युक्तियुक्त उत्तर दीजिए।

अथवा

'चन्द्रगुप्त' नाटक का नायक 'चन्द्रगुप्त' है या 'चाणक्य' तर्कपूर्ण उत्तर दीजिए।

उत्तर–'चन्द्रगुप्त' का नायकत्व–प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों में चन्द्रगुप्त नामक नाटक सर्वाधिक प्रमुख है। इसमें नाटककार ने इतिहास और कल्पना का मणिकांचन संयोग किया है। लेकिन इस नाटक के नायकत्व के बारे में विद्वानों में काफी मतभेद देखा जा सकता है। चन्द्रगुप्त नाटक के प्रमुख पात्रों में से कुछ के चरित्र इतने समान्तर ढंग से विकसित हुए हैं कि उनकी प्रमुखता के बारे में सन्देह उत्पन्न होने लगता है। यूँ तो नाटक में नायक-नायिका तथा प्रतिनायक तीनों की स्थिति विवादास्पद है, लेकिन यहाँ केवल नाटक के नायकत्व पर ही विचार किया जा रहा है, क्योंकि नायक ही नाटक में सर्वाधिक प्रमुख पात्र होता है।

भरत के नाट्यशास्त्र में नायक को नाटक के पात्रों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। वही कथावस्तु को फल की ओर ले जाता है। नायक की परिभाषा देते हुए दशरूपककार ने कहा है कि नायक को उच्चकुलोत्पन्न, युवा, विनीत, मधुर, त्यागी, तेजस्वी तथा प्रियवंद होना चाहिए। इसी प्रकार से आचार्य मम्मट विश्वनाथ आदि ने भी नायक के गुणों की चर्चा की है। पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों में अरस्तू का नाम प्रमुख है। वे कहते हैं कि नायक एक प्रसिद्ध नाम वाला तथा समृद्ध होना चाहिए।

(He must be one who is highly renowned and prosperous.)

लेकिन पाश्चात्य विद्वानों का यह भी कहना है कि नायक के चरित्र में द्वन्द्व भी होना चाहिए। आधुनिक युग के एक पूर्ण मानव की कल्पना करना अस्वाभाविक है। आज हम न तो भारत के रसवादी दृष्टिकोण को लेकर चल सकते हैं और न ही यूरोप के यथार्थवादी। अतः आदर्श और यथार्थ का समन्वय करके ही एक सन्तुलित नायक की योजना की जा सकती है। नाटककार

प्रसाद ने इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर चन्द्रगुप्त की रचना की है। अन्य शब्दों में, हम कह सकते हैं कि नाटक में नायक निम्नलिखित गुण होने चाहिएँ–

(1) नायक सम्पूर्ण नाटकीय कथावस्तु के विभिन्न कथासूत्रों का संकलन करे तथा उनको उद्देश्य की ओर ले जाए।

(2) नायक कथा के आरम्भ से लेकर अन्त तक विद्यमान रहना चाहिए।

(3) नायक नाटक के प्रेषणीय प्रभाव का प्रतीक होना चाहिए।

(4) नाटक के अन्य सभी पात्र न केवल उससे प्रभावित हों बल्कि प्रेरित भी हों।

(5) उसमें आत्मबल, वीरता और धीरता होनी चाहिए।

(6) वह कथावस्तु में अन्तिम फल का भोक्ता होना चाहिए।

(7) नाटक के प्रधान रस का आधार पात्र भी नायक ही होना चाहिए।

(8) नायक के नाम पर ही नाटक का नामकरण होना चाहिए और वह नाटककार को भी मान्य होना चाहिए।

(9) नायक उच्चकुलोत्पन्न और उच्चगुण सम्पन्न होना चाहिए।

(10) दर्शकों तथा पाठकों की सहानुभूति भी नायक के प्रति होनी चाहिए।

उपरोक्त विवेचन के पश्चात् हम इस बात पर विचार करते हैं कि चन्द्रगुप्त नाटक में किस पात्र को नायक माना जा... आलोचकों का एक वर्ग **चाणक्य** को नाटक का नायक मानता है और दूसरा वर्ग **चन्द्रगुप्त** को।

(क) चाणक्य का पक्ष–डॉ. दशरथ ओझा ने प्रस्तुत नाटक में चाणक्य को नायक सिद्ध करने का प्रयास किया है। वे क... भी हैं कि चन्द्रगुप्त में प्रसाद जी की सबसे बड़ी देन चाणक्य है। नाटक में उसका चरित्र महान् प्रभावशाली बन गया है। लेख... ने उसे प्रतिष्ठित सम्राट का प्रतिद्वन्द्वी बना दिया है। इसलिए कुछ आलोचक चाणक्य को ही नाटक का नायकत्व प्रदान क... हैं। इस सन्दर्भ में उनका तर्क है कि नाटक की समूची कथा चाणक्य पर आश्रित है। सभी घटनाएँ उसके चारों ओर चक्... काटती हैं। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि नाटक की घटनाएँ उसी द्वारा नियन्त्रित हैं, वही घटनाओं की योजना कर... है, वही उनका परिचालन करता है। अतः उसके अभाव में नाटक तत्त्वविहीन हो सकता है। इस सन्दर्भ में डॉ. धनंजय ने लि... भी है–**"इसमें सन्देह नहीं कि चाणक्य अपनी सारी चारित्रिक विशेषताओं के साथ इस नाटक में प्रस्तुत हुआ है। इसलिए ... इतना उदग्र हो गया है कि चन्द्रगुप्त के नायकत्व पर सन्देह होने लगता है।"** एक आलोचक के शब्दों में–**"घटनाएँ चाहे जिस... लिए भी घटित हों, नायक वही होता है जो घटनाओं को घटित होने के लिए विवश करता है। शस्त्र चलाने वाला वीर होता... परन्तु शस्त्र-चालन को संचालित करने वाला उसका भी संचालक होता है। सेना-नायक इसीलिए नायक कहलाता है क्योंकि ... लड़ता कम और योजना बनाकर पथ-प्रदर्शन का काम अधिक करता है। इसलिए वह सारे संघर्ष का सूत्रधार बन जाता है।"** इ... दृष्टि से जब हम प्रस्तुत नाटक में चाणक्य के बारे में सोचते हैं तो वही हमें नाटक का नायक लगता है। तक्षशिला के गुरुकु... में घटित प्रथम घटना उसी से सम्बन्धित है। वही नाटक के कथानक को आगे बढ़ाता हुआ चन्द्रगुप्त तथा कार्नेलिया के परिण... तक पहुँचाता है। नाटक की प्रत्येक छोटी-बड़ी घटना का नियोजन वही करता है। यही नहीं, वह अपने प्रतिद्वन्द्वी कहे जा सक... वाले चन्द्रगुप्त को भी बार-बार निर्देश देता है। प्रस्तुत नाटक का मूल भाव है देश-भक्ति। नाटक के आरम्भ से लेकर अन्त त... चाणक्य अपने राष्ट्र की एकता और अखण्डता के बारे में सोचता हुआ दिखाया गया है। वह व्यक्तिगत लाभ के लिए कुछ ... नहीं करता। उसकी सम्पूर्ण कूटनीति, सारे प्रयास, सारी शक्तियाँ आर्य साम्राज्य की स्थापना के लिए हैं। जब उसे पूरा विश्वा... हो जाता है कि अब हमारा देश सुरक्षित है तब वह विश्राम करता है।

नाटक के अन्य सभी पात्र चाणक्य की प्रतिभा के समक्ष न केवल नतमस्तक हैं, बल्कि उसकी पूजा करते हुए दिखा... देते हैं। चन्द्रगुप्त और सिंहरण जैसे पात्र भी उसकी लक्ष्य पूर्ति के साधन मात्र हैं। यहाँ तक कि वही रणनीति बनाता है औ... वही सेनाओं का संचालन करता है। इस सन्दर्भ में **डॉ. कृष्णदेव शर्मा** लिखते हैं–**"चन्द्रगुप्त राजा है, परन्तु चाणक्य निर्मित। ... चाणक्य के बिना कुछ भी करने में समर्थ नहीं। चन्द्रगुप्त द्वारा छोटा सा प्रश्न करने पर भी, "यह प्रश्न अभी मत करो", "... अपना काम करो, विवाद करना तुम्हारा काम नहीं।"** जैसे उत्तरों में चाणक्य का नायकत्व बोल रहा है। सिंहरण मगध साम्रा... का महाबलाधिकृत होने पर भी, चाणक्य द्वारा रुष्ट होकर चले जाने पर सम्राट को छोड़ उसी के पथ का अनुसरण करता है... सिकन्दर, पर्वतेश्वर, आम्भीक और सिल्यूकस आदि तो उसकी फूंक से उड़ते तिनके भर हैं। अलका, मालविका, कार्नेलिया औ... सुवासिनी आदि भी इसी राष्ट्र-देवता की परिक्रमा करती दिखाई देती हैं।

चाणक्य में न केवल आत्मबल है, बल्कि दृढ़ पौरुषेय शक्ति भी है। वह विपरीत परिस्थितियों, विघ्नों और संकटों के बीच भी स्थिर रह सकता है। अपने इन्हीं गुणों के कारण वह सिकन्दर जैसे महान् सम्राट के सैन्य बल को खदेड़ देता है। वह ऐसा काम कर दिखाता है जिसे बड़े-बड़े नरेश भी नहीं कर सकते। इस नाटक का अंगी रस वीर है। पोषक रस शृंगार तथा नियामक रस शान्त है। चाणक्य में यदि तेजस्विता है तो सुवासिनी के प्रति प्रेम भाव भी है। अतः शृंगार रस का परिपाक भले न होने पाया हो, लेकिन शृंगार रस से उसका भी सम्बन्ध है। परन्तु नियामक रस शान्त का आश्रय चाणक्य में भी है। इस सन्दर्भ में डॉ. नेमीचन्द्र जैन लिखते हैं—**"फल-प्राप्ति को संकीर्ण अर्थों में न लिया जाए तो चाणक्य फल भोक्ता भी सिद्ध होता है। नाटक का फल उसके संकल्प की पूर्ति माना जा सकता है। उसका संकल्प है—नन्द वंश का उन्मूलन और चन्द्रगुप्त को निष्कंटक राजा बनाना। अपने आदर्श की प्राप्ति के लिए नाटक के अन्त में चाणक्य कहता भी है—मुख्य वस्तु आज सामने आई; आज मुझे अन्तर्निहित ब्राह्मणत्व की उपलब्धि हो रही है।"**

इधर डॉ. शान्ति स्वरूप गुप्त ने अनेक तर्क देकर चाणक्य को ही इस नाटक का नायक सिद्ध करने का प्रयास किया है। वे लिखते हैं—**"भारत की अखण्डता भावना जगाना है, भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा करना है.... और चाणक्य ही इसके लिए प्रयत्नशील है।.... चाणक्य जिन संघर्षों में भाग लेता है, जिनका नियमन करता है, उनकी तुलना में चन्द्रगुप्त का संघर्ष अत्यन्त तुच्छ है.... चाणक्य संघर्ष की लहरों को नियन्त्रित करते हुए भी उनमें डूबता नहीं। ...उसकी अपनी कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं है.... उसका लक्ष्य एक महान् ऋषि का लक्ष्य है, जिसके सम्मुख चन्द्रगुप्त का स्वार्थपूर्ण लक्ष्य अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होता है। ....चन्द्रगुप्त नाटक में लेखक का अभीष्ट रहा है। भारतीय संस्कृति को उसकी सम्पूर्ण गरिमा के साथ प्रतिष्ठित करना रहा है और इसके लिए उन्होंने चाणक्य को चुना है.... इस प्रकार फल-प्राप्ति, संघर्षों का नियन्ता, कथा का सूत्रधार, नाटक की मूल संवेदना एवं नाटककार के उद्देश्य सभी आधारों पर प्रस्तुत नाटक का नायक चाणक्य प्रमाणित होता है।"**

इसी प्रकार से डॉ. नेमीचन्द्र जैन, राजेश्वर प्रसाद अनर्गल आदि ने भी चाणक्य को ही इस नाटक का नायक सिद्ध किया है। डॉ. नेमीचन्द्र जैन अपनी पुस्तक 'प्रसाद' और 'चन्द्रगुप्त' में लिखते हैं—"ऐसे प्रभावशाली व्यक्तित्त्व को केवल कुछ शास्त्रीय बन्धनों के कारण नायकत्व से वंचित कर देना समालोचकों को नहीं सुहाया।" इसलिए उन्होंने यह भी कहा कि चन्द्रगुप्त नाटक की सभी घटनाओं का केन्द्र यदि कोई है तो चाणक्य। सिंहरण, अलका आदि का सम्बन्ध चाणक्य से अधिक है। वह सभी को सलाह देता है। सभी का मार्ग बनाता है.... अतएव नाटक का यदि कोई नायक है तो चाणक्य ही है, चन्द्रगुप्त नहीं और यदि कोई नाटक का नाम रखा जा सकता है तो वह भी चाणक्य ही।

(ख) चन्द्रगुप्त का पक्ष—दूसरी ओर कुछ विद्वानों ने चन्द्रगुप्त को ही नाटक का नायक स्वीकार किया है। सत्य तो यह है कि चन्द्रगुप्त में ही नायकोचित सभी गुण हैं। वह उच्चकुलोत्पन्न है, युवा, वीर, प्रियवंद, विनम्र, अति प्रसिद्ध तथा दृढ़ निश्चयी है। नाटक का नाम भी उसके नाम पर किया गया है। नाटक में वह आदि से अन्त तक विद्यमान है। भले ही चाणक्य की बुद्धि घटना-चक्र का नियोजन और परिचालन करती है, लेकिन सभी घटनाओं को क्रियान्वित करने वाला वही है और उसी की भुजाओं में शक्ति है। चाणक्य तो हमेशा पर्दे के पीछे रहकर ही काम करता है। प्रत्यक्ष पूर्ति चन्द्रगुप्त द्वारा ही होती है। इसलिए चन्द्रगुप्त नाटक का प्रत्यक्ष सम्बन्ध चन्द्रगुप्त के साथ है। चाहे मालविका हो, कल्याणी अथवा कार्नेलिया हो, सभी चन्द्रगुप्त के विनम्र गुण से प्रभावित हैं और उसके मधुर रूप पर आसक्त हैं। सिकन्दर और सिल्यूकस भले ही चन्द्रगुप्त के विरोधी हों, लेकिन वे दोनों उसकी वीरता का लोहा मानते हैं। दाण्ड्यायन जैसा महान् ऋषि उसके विशिष्ट गुणों में विश्वास रखता है और उसे भारत का भावी सम्राट् होने का आशीर्वाद देता है। स्वयं चाणक्य ने भी चन्द्रगुप्त के माध्यम से अपने उद्देश्य की प्राप्ति की है। वह चन्द्रगुप्त की शक्ति और बुद्धि से प्रभावित है और उसे भारत का सम्राट् समझता है। चाणक्य को चन्द्रगुप्त के सिवाय और कोई ऐसा पात्र दिखाई नहीं देता जो भारत की अखण्डता और राष्ट्रीयता की रक्षा कर सके।

पहले बताया जा चुका है कि राष्ट्र-प्रेम इस नाटक का मूल प्रतिपाद्य है। लेखक देश-भक्ति की भावना को ही सम्प्रेषित करना चाहता है और इसका सम्प्रेषण करने में चन्द्रगुप्त ही समर्थ है। वह अद्वितीय, पराक्रमी, दृढ़ निश्चयी, साहसी और वीर है। एक स्थल पर वह कहता भी है—**"संसार भर की नीति और शिक्षा का अर्थ यही समझा है कि आत्म-सम्मान के लिए मिटना ही उत्तम है।"** इस सन्दर्भ में डॉ. विश्वम्भर मानव लिखते हैं—**"इस बात को देखकर बहुत बड़ा सन्तोष होता है कि प्रसाद जी ने चन्द्रगुप्त को चाणक्य के हाथ की कठपुतली मात्र नहीं रखा।"** नाटक के आरम्भ में चाणक्य इस वात को लेकर शंकित है कि आर्यवर्त्त का भविष्य अन्धकारमय है, क्योंकि विदेशी शक्तियाँ उसे विजित करना चाहती हैं। चाणक्य आर्यवर्त्त को निष्कंटक बनाने के लिए आवश्यक साधनों की खोज आरम्भ करता है, लेकिन चन्द्रगुप्त शपथपूर्वक प्रतिज्ञा करता है कि यवन यहाँ कुछ न कर

सकेंगे। यदि चन्द्रगुप्त चाणक्य की आज्ञाओं का पालन करता है तो इसका यह मतलब नहीं है कि वह उसके अधीन है अथवा उसका दास है, बल्कि उसकी यह प्रवृत्ति उसकी गुरु-भक्ति को प्रकट करती है। उसके चरित्र में दुर्बलता तो नाममात्र की भी नहीं है। वह चाणक्य को बन्दीगृह से मुक्त करवाता है। सिकन्दर के सेनापतियों द्वारा बंदी बनाए जाने पर वह असाधारण धीरता प्रदर्शित करता है। मगध पर विजय पाने के लिए सिकन्दर की सैन्य सहायता को ठुकरा देता है। इन घटनाओं से चन्द्रगुप्त की निर्भीकता, निडरता और आत्म-सम्मान की भावना का पता चलता है। जब चाणक्य और सिंहरण उसका साथ छोड़ देते हैं तो वह कह उठता है—**"चन्द्रगुप्त युद्ध करना जानता है और विश्वास रखो उसके नाम का जयघोष विजयलक्ष्मी का मंगल गान है। आज से मैं ही बलाधिकृत हूँ, मैं आज सम्राट् नहीं, सैनिक हूँ। चिन्ता क्यों? सिंहरण और गुरुदेव न साथ दें, डर क्या?"** चन्द्रगुप्त का यह व्यक्तित्त्व उसकी धीरता, वीरता और निडरता का परिचायक है। इस कथन से यह भी स्पष्ट होता है कि चन्द्रगुप्त का व्यक्तित्त्व चाणक्य से पृथक् है और वह नायक कहलाने के योग्य है।

इस नाटक का प्रधान रस वीर और पोषक रस शृंगार है। इन दोनों रसों का आश्रय चन्द्रगुप्त ही है। नाटक के अधिकांश नारी पात्र चाहे अलका हो, कार्नेलिया हो, या मालविका, सभी उससे प्रेम करती हैं। कार्नेलिया के साथ तो उसका विवाह होता है। सामाजिक भी उसके व्यक्तित्त्व से अभिभूत हो उठते हैं। अतः रस की दृष्टि से चन्द्रगुप्त ही नायक सिद्ध होता है।

नायकत्व सिद्ध करने के लिए यह सोचना भी नितान्त आवश्यक है कि नाटक में वर्णित फल क्या है और उसका उपभोक्ता कौन है? जो व्यक्ति फल की प्राप्ति करेगा, वही नायक कहलायेगा। सिकन्दर, नन्द और सिल्यूकस के विरुद्ध छेड़े गए संघर्ष में चन्द्रगुप्त प्रत्यक्ष रूप से भाग लेता है और वह विशाल आर्य साम्राज्य का सम्राट् बनता है। कार्नेलिया से उसका विवाह होता है और नाटक के अन्त में चाणक्य राक्षस को मंत्री बनाकर स्वयं हमेशा के लिए विश्राम ले लेता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि चन्द्रगुप्त ही नाटक के फल का भोक्ता है, चाणक्य नहीं। चाणक्य का दर्जा मात्र गुरु का दर्जा है। वह चन्द्रगुप्त का प्रेरक है। उसे हम नायक नहीं कह सकते। अतः फल-प्राप्ति की दृष्टि से चन्द्रगुप्त ही नायक सिद्ध होता है।

नाटककार की अपनी मान्यता भी विशेष महत्त्व रखती है। प्रसाद ने भी चन्द्रगुप्त को ही नाटक का नायक माना है और उसी के नाम पर नाटक का नामकरण किया है। इसके साथ-साथ लेखक ने इस नाटक की भूमिका में चन्द्रगुप्त का प्रामाणिक परिचय और उसके नायकोचित गुणों के सम्मान में अपनी प्रतिभा का प्रयोग किया है। जिन आलोचकों ने चाणक्य का समर्थन करते हुए चन्द्रगुप्त के नायकत्व के बारे में शंका व्यक्त की है, वे भी प्रकारान्तर से चन्द्रगुप्त को ही नाटक का नायक मानते हैं। **डॉ. धनंजय चाणक्य** के चरित्र का महत्त्व प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं—**"यहाँ तक कि चन्द्रगुप्त भी, जो नाटक का नायक है, उसके सामने दब जाता है।" दूसरी ओर राजेश्वर प्रसाद अगुल लिखते हैं—"नायक तक वह (चाणक्य) सूत्रधार है।"** इससे स्पष्ट होता है कि **डॉ. धनंजय** और **श्री राजेश्वर प्रसाद अगुल** भी चन्द्रगुप्त को ही नायक मानते हैं।

यदि गहराई से देखा जाए तो चन्द्रगुप्त और चाणक्य न तो एक-दूसरे के विरोधी हैं और न ही प्रतिद्वन्द्वी, बल्कि एक-दूसरे के पूरक हैं। इस सम्बन्ध में **डॉ. नेमीचन्द्र जैन** लिखते हैं—**"यद्यपि चाणक्य की क्रियाशीलता, घटनाओं की केन्द्रोन्मुखता और शक्ति की एकस्थता के दृष्टिकोण से उसे नायक मान लेने को मन करता है, फिर भी चन्द्रगुप्त के क्रिया-कलाप, वीरता, चातुर्य और साहस आदि मानवीय गुणों के कारण उसका नायक बना रहना असंगत नहीं लगता।"**

अन्त में **श्री कृष्ण कुमार सिन्हा** चन्द्रगुप्त को नायक सिद्ध करते हुए लिखते हैं—**"चन्द्रगुप्त और चाणक्य दोनों के जीवन का एक ही उद्देश्य है—नंदवंश का उन्मूलन एवं शक्तिशाली आर्य साम्राज्य की स्थापना। इस प्रधान कार्य की सिद्धि के लिए चाणक्य और चन्द्रगुप्त एक-दूसरे के अनुपूरक हैं। यदि चाणक्य के पास मस्तिस्क है तो चन्द्रगुप्त की भुजाओं में शक्ति। अतः शक्तिशाली आर्य साम्राज्य की स्थापना के लिए दोनों की अनिवार्यता है.... अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए चाणक्य परोक्ष रूप से क्रियाशील है तो चन्द्रगुप्त प्रत्यक्ष रूप से। यह सत्य है कि चाणक्य में मूल प्रेरक भाव हैं तो उसकी पूर्ति चन्द्रगुप्त है और वही फल का उपभोक्ता है। ...आखिर में सभी कार्यों को अच्छी तरह पूरा कर लेने के बाद सिद्धि, उद्देश्य और फल को भोगने के लिए चन्द्रगुप्त ही रह जाता है। ...अतः इस नाटक का नायक चन्द्रगुप्त ही है, न कि चाणक्य।"**

इस प्रकार हम देखते हैं कि चन्द्रगुप्त ही इस नाटक का नायक है। उसमें धीरोदात्त नायक के सभी गुण और विशेषताएँ हैं। वह धीर, वीर, स्वाभिमानी, कर्तव्यपरायण, साहसी, उत्साही, सच्चा प्रेमी, देश-रक्षक और देश-प्रेमी है। नाटककार ने उसी के नाम पर नाटक का नामकरण भी किया है। वही नाटक की नायिका को प्राप्त करता है और निष्कंटक भारत का सम्राट् बनता है।

उसके चरित्र की विशेषताएँ इस प्रकार हैं--

चन्द्रगुप्त की चरित्रगत विशेषताएँ

↓

(1) आत्म-सम्मान की भावना

↓

(2) निडर और साहसी

↓

(3) पराक्रमी और वीर

↓

(4) कर्तव्यपरायण

↓

(5) रणनीति में कुशल

↓

(6) दृढ़ निश्चयी और स्वावलम्बी

↓

(7) स्वातंत्र्य प्रेमी और न्यायप्रिय

↓

(8) स्वावलम्बी एवं वीरता की गरिमा से सम्पन्न

↓

(9) उदारमना एवं तेजस्वी

↓

(10) आज्ञाकारी शिष्य और सच्चा राष्ट्र-भक्त

↓

(11) कोमल हृदय व्यक्ति

(1) आत्म-सम्मान की भावना–नाटक का नायक होने के कारण चन्द्रगुप्त में आरम्भ से ही आत्म-सम्मान की भावना देखी जा सकती है। वह आत्म-सम्मान के लिए अपने प्राणों की परवाह भी नहीं करता। इसलिए एक स्थल पर वह कहता है–**"संसार भर की नीति और शिक्षा का अर्थ मैंने केवल यही समझा है कि आत्म-सम्मान के लिए मर-मिटना ही दिव्य जीवन है।"** इस सिद्धान्त को सामने रखकर वह जीवन के संग्राम में कदम रखता है और आजीवन उसका निर्वाह भी करता है। जब सिकन्दर उसे प्रलोभन देता है तो उसे करारा उत्तर देते हुए कहता है–**"चन्द्रगुप्त रोटियों के लालच या घृणाजनक लोभ से सिकन्दर के पास नहीं आया।"** उसका यह कथन उसके आत्म-राम्मान को ही प्रकट करता है। यही नहीं, जब चाणक्य उस पर नियन्त्रण करना चाहता है तो उसे लगता है कि उसके आत्म-सम्मान को ठेस पहुँच रही है। अतः वह चाणक्य द्वारा आत्म-सम्मान पर होने वाले प्रहार को सहन नहीं कर पाता। इसलिए वह चाणक्य से कहता भी है–**"वह अक्षुण्ण अधिकार आप कैसे भोग रहे हैं? केवल साम्राज्य का ही नहीं, देखता हूँ आप मेरे कुटुम्ब का नियन्त्रण भी अपने हाथों में रखना चाहते हैं।"** इस प्रकार हम देखते हैं कि चन्द्रगुप्त में आत्म-सम्मान की भावना विद्यमान है।

(2) **निडर और साहसी**–चन्द्रगुप्त एक निर्भीक और साहसी व्यक्ति है। वह अपने शत्रुओं के समक्ष निर्भीकतापूर्वक अपने साहस का प्रदर्शन करता है। सिकन्दर उसके समक्ष सैन्य सहायता देने का प्रस्ताव रखता है। लेकिन चन्द्रगुप्त निर्भीकतापूर्वक उसके प्रस्ताव को ठुकरा देता है। वह साहसपूर्वक उससे कहता है–**"मुझे आपकी सहायता नहीं चाहिए। मैं यहाँ यवनों को अपना शासक बनने को आमन्त्रित करने नहीं आया हूँ.... मुझे लोभ से पराभूत गांधार राज्य का राजकुमार आम्भीक समझने की भूल न होनी चाहिए। मैं मगध का उद्धार करना चाहता हूँ पर यवन लुटेरों की सहायता से नहीं।"** पूरे नाटक में चन्द्रगुप्त की निर्भीकता और साहस के असंख्य स्थल हैं। ग्रीक शिविर में फिलिप्स, एनीसाक्रीटीज और आम्भीक चन्द्रगुप्त को बन्दी बनाने का पूरा प्रयास करते हैं, लेकिन वह उनके प्रयत्नों को विफल करके प्रतिकूल परिस्थितियों में से सुरक्षित बाहर आ जाता है। इसका एक ही कारण है कि वह बड़ा ही निर्भीक और साहसी व्यक्ति है। यही नहीं, चन्द्रगुप्त अपने साहस के कारण चाणक्य को कैद से मुक्त करता है और दृढ़तापूर्वक किवाड़ बन्द करता हुआ चाणक्य से कहता है–**"शवों में बोलने की शक्ति नहीं होती।"** इसी प्रकार से जब आम्भीक उसके सामने कोरी शिष्टता की वकालत करता है तब वह निडर होकर उससे कहता है–**"स्वच्छ हृदय भीरू कायरों की भी वंचक शिष्टता नहीं जानता, अनार्य! देशद्रोही आम्भीक! चन्द्रगुप्त रोटियों के लालच से या घृणात्मक लोभ से सिकन्दर के पास नहीं आया है।"**

(3) **पराक्रमी और वीर**–पूरे नाटक को पढ़ने से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त एक पराक्रमी और परिश्रमी व्यक्ति है। उसका आत्माभिमान पराक्रम से ओत-प्रोत है। वह बड़ी वीरता के साथ अपने स्वाभिमान की रक्षा करता है। नाटक के आरम्भ से ही वह कष्टों और विपत्तियों को सहन करता है और संघर्षों का सामना करता है। भूख-प्यास की परवाह न करते हुए वह चाणक्य के साथ भीड़ पथ पर आगे बढ़ता रहता है। ग्रीक शिविर से सुरक्षित निकल आने की घटना उसके पराक्रम की परिचायक है। वह अपनी वीरता और पराक्रम के द्वारा जगत् विजेता सिकन्दर को भी हरा सकता है। सिल्यूकस के साथ होने वाले युद्ध में भी वह अपनी वीरता का परिचय देता है। जब वह सैनिक शिविर और अन्न की व्यवस्था कर लेता है तो सैनिक उससे यह प्रश्न करता है कि आज शिविर कहाँ पर होगा। उत्तर में चन्द्रगुप्त कहता है–**"अश्व की पीठ पर। सैनिक कुछ खिला दो और अश्व बदल दो, एक क्षण विराम नहीं।"** मृत्यु से भयानक स्थिति का भी आलिंगन करने के लिए वह हमेशा तैयार रहता है। वह कभी भी परिणाम की चिन्ता नहीं करता, परिश्रम करना उसका स्वभाव है और उसे पूरा विश्वास है कि विजय उसी की होगी। शत्रु की प्रत्येक ललकार को वह चुनौती देता है और अपने अद्भुत पराक्रम द्वारा शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है। फिलिप्स सम्बन्धी घटना इसी तथ्य को प्रमाणित करती है कि चन्द्रगुप्त एक वीर एवं पराक्रमी युवक है। वह युद्ध से मुँह मोड़ना नहीं जानता।

(4) **कर्तव्यपरायण**–चन्द्रगुप्त के चरित्र की एक अन्य विशेषता यह है कि वह एक कर्तव्यपरायण व्यक्ति है। नाटक में वह हमेशा अपने कर्तव्य का पालन करता हुआ दिखाई देता है। कर्तव्य के अतिरिक्त वह और किसी की चिन्ता नहीं करता। सच्चाई तो यह है कि चाणक्य चन्द्रगुप्त के माध्यम से ही आर्यवर्त्त को शत्रुओं से निष्कंटक बनाता है। जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया तो चाणक्य से उसकी चर्चा होती है। चाणक्य उसे कहता है–**"परिव्राजक होने की इच्छा है क्या?"** यह सुनकर चन्द्रगुप्त स्पष्ट उत्तर देता है–**"कदापि नहीं, यवनों को प्रतिपद में बाधा देना मेरा कर्तव्य है और शक्ति भर प्रयत्न करूँगा।"** उधर सिल्यूकस की पुत्री कार्नेलिया चन्द्रगुप्त में अपने प्रेम की स्मृति को जगाती है। एक क्षण के लिए चन्द्रगुप्त भी उसकी ओर आकर्षित होकर डगमगा जाता है, लेकिन इस स्थिति में भी वह अपने कर्तव्य को भुला नहीं पाता। इस काल में भी उसका हृदय देश की दुर्दशा के कारण व्याकुल है। इस व्याकुलता में प्रेम लता मुरझा जाती है। वह प्रेम के मुकाबले में अपने कर्तव्य को अधिक महत्त्व प्रदान करता है। भले ही वह एक सेनापति का पुत्र है, लेकिन युद्ध को ही अपने जीवन का लक्ष्य मानता है। युद्ध ही उसकी आजीविका है। एक स्थल पर अलका और सिंहरण उसका साथ छोड़ देते हैं, लेकिन चन्द्रगुप्त इसकी परवाह किए बिना अपने कर्तव्य का पालन करने की घोषणा करता है। वह कहता है–चन्द्रगुप्त को रहना पड़ेगा और वह रहेगा।

(5) **रणनीति में कुशल**–चन्द्रगुप्त रणनीति में कुशल है। वह पर्वतेश्वर को, यवनों की रणनीति से अलग होने के कारण सावधानी से युद्ध करने की सलाह देता है। वह कल्याणी से गणसेना की अनुपयोगिता की भी चर्चा करता है तथा पर्वतेश्वर को विजय दिलाने के लिए वह पहाड़ी से सेना इकट्ठी करने की सलाह देता है। यवनों की रणनीति के विषय में चर्चा करते हुए वह सिंहरण से कहता है–**"यवन आतंक फैलाना जानते हैं और उसे अपनी राजनीति का प्रधान अंग मानते हैं। निरीह प्रजा को लूटना, गाँवों को जलाना, उनके भीषण, परन्तु साधारण कार्य हैं।"**

अपने उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए शत्रुओं से युद्ध करने के लिए वह हमेशा तैयार रहता है। यही कारण है कि उसे युद्ध-क्षेत्र में प्रत्येक स्थान पर सफलता की प्राप्ति होती है। सिकन्दर जब मगध पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिए

चन्द्रगुप्त के सामने उसकी सैनिक सहायता करने की इच्छा जाहिर करता है, तब उस समय वह जो उत्तर देता है, उससे उसकी निर्भीकता और उसके स्वावलम्बन का स्पष्ट चित्र सामने आ जाता है। वह आदरसहित निमन्त्रित और सिल्यूकस से उपकृत होने के कारण कर्तव्य कें अनुरोध से ग्रीक शिविर में आ गया है। पर, सिकन्दर उसे गुप्तचर समझता है– यहाँ पर भी चन्द्रगुप्त अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हुए सिकन्दर से कहता है–**"मुझे लोभ से पराभूत गान्धार-राज आम्भीक समझने की भूल न होनी चाहिए। मैं मगध का उद्धार करना चाहता हूँ, परन्तु यवन लुटेरों की सहायता से नहीं।"** सिकन्दर को सच्चाई बताने में उसे न तो किसी प्रकार का कोई भय है और न ही कोई संकोच। कायरों की-सी वंचक शिष्टता से उसे घृणा है। वह पूरे बल के साथ कहता है कि किसी भी प्रकार के लालच या स्वार्थ सिद्धि के लिए मैं ग्रीक शिविर में नहीं गया हूँ। प्रत्येक अवस्था में वह शत्रु का सामना करने के लिए तैयार रहता है। फिलिप्स के द्वन्द्व-युद्ध के आह्वान को वह इन शब्दों में स्वीकार करता है, **"आधी रात, पिछले पहर जब तुम्हारी इच्छा हो।"** वह मालव युद्ध में जग विजयी सिकन्दर को भी पराजित कर देता है। चन्द्रगुप्त जब कभी भी अपने शत्रु को पराजित करता है या उनके जीवन को बहुमूल्य समझकर शत्रु को सुरक्षित वापिस चले जाने का रास्ता दिखाता है, तो उसमें एक प्रकार की शालीनता और शिष्टता रहती है, जिससे उसकी वीरता की महिमा और बढ़ जाती है।

(6) दृढ़ निश्चयी और स्वावलम्बी–चन्द्रगुप्त का निश्चय दृढ़ है। नाटक के आरम्भ में ही वह अपने गुरु के चरणों की शपथ लेकर एक निश्चय करता है कि–**"यवन यहाँ कुछ नहीं कर सकेंगे।"** और अंत तक इसी दृढ़ निश्चय पर डटा रहता है। चाहे उसके रास्ते में कितनी भी कठिनाइयाँ क्यों न आएँ, लेकिन वे उसे अपने निश्चय से पीछे नहीं हटा सकतीं। चाणक्य और सिंहरण द्वारा साथ छोड़ देने पर भी वह स्पष्ट घोषणा करता है–**"चन्द्रगुप्त युद्ध करना जानता है, और विश्वास रखो, उसके नाम का जयघोष विजय-लक्ष्मी का मंगल गान है.... चिन्ता क्या? सिंहरण और गुरुदेव साथ न दें, डर क्या.... यह लो मुद्रा और सिंहरण को छुट्टी दे दो। कह देना कि तुम दूर खड़े रहकर देख लो सिंहरण! चन्द्रगुप्त कायर नहीं है, जाओ।"** उसके ये वाक्य उसके स्वावलम्बी होने का प्रमाण देते हैं।

(7) स्वातंत्र्य प्रेमी और न्यायप्रिय–चन्द्रगुप्त स्वतन्त्रता प्रेमी और न्यायप्रिय शासक है। स्वतन्त्रता प्रेमी होने का पता नाटक के आरम्भ में ही उसकी प्रतिज्ञा से ही चल जाता है। उस समय उसकी स्वतन्त्रता प्रियता का पता और भी स्पष्ट हो जाता है जब वह सिकन्दर के सहायता प्रस्ताव को स्पष्ट शब्दों में ठुकरा कर कहता है कि–**"मैं यवनों को अपना शासक बनने को आमन्त्रित करने के लिए यहाँ नहीं आया हूँ,"** बल्कि ऐसा करने वाले आम्भीक को उसके सामने ही 'देशद्रोही' और 'अनार्य' शब्दों से सम्बोधित करता है। सम्राट् बन जाने के बाद चन्द्रगुप्त एक कुशल शासक और न्यायप्रिय शासक के रूप में हमारे सामने आता है। चाणक्य के सम्मान की रक्षा के लिए वह अपने पिता को भी दण्ड देने से पीछे नहीं हटता। वह स्पष्ट शब्दों में कहता भी है–**"चन्द्रगुप्त क्षमा का भिखारी नहीं, न्याय करना चाहता है।"** और इसी प्रसंग में वह अपने पिता से कहता भी है–**"पिताजी, राज्य व्यवस्था आप जानते होंगे–वध के लिए प्राणदण्ड होता है और आपने गुरुदेव का–इस आर्य साम्राज्य के निर्माण-कर्ता ब्राह्मण का वध करने जाकर कितना गुरुतर अपराध किया है।"**

(8) स्वावलम्बी एवं वीरता की गरिमा से सम्पन्न–चन्द्रगुप्त एक स्वावलम्बी और आत्म-सम्मान की भावना से परिपूर्ण एक व्यक्ति है। उसमें कर्तव्यपरायणता और अपने उद्देश्य को पूरा करने की क्षमता है। विश्वास और लगन आदि, जो किसी व्यक्ति को उसके लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए सहायक होते हैं, चन्द्रगुप्त में ये गुण विद्यमान हैं। चाणक्य का व्यक्तित्त्व भले ही सर्वग्राही है, लेकिन फिर भी वह चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्त्व की गरिमा को दबा नहीं सका। चाणक्य और चन्द्रगुप्त एक-दूसरे के समान कहे जा सकते हैं। चन्द्रगुप्त के चरित्र और आगे बढ़ाने के लिए उचित अवसर नहीं मिल सका है। इस विषय में **डॉ. जगन्नाथ शर्मा** ने चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में लिखा है–**"चन्द्रगुप्त धीरोदात्त नायक के गुणों से सम्पन्न है। चन्द्रगुप्त का नायकत्व नाटक में अपना कोई स्थान नहीं रखता। वह तो चाणक्य की राजनीति का विश्लेषण मात्र है।"** चन्द्रगुप्त प्रथम तीन अंकों में ऐसा दिखलाई देता है कि चाणक्य ने यदि आम को इमली बतलाया तो चन्द्रगुप्त ने उसे स्वीकार कर लिया। ऐसी अवस्था में चन्द्रगुप्त का अपना क्या व्यक्तित्व है? वह इतना ही माना जा सकता है कि इतिहास चन्द्रगुप्त को राजा बतलाता है इसलिए नायक है, नहीं तो बिना क्षेत्र के चाणक्य ही राजा है। चन्द्रगुप्त कठपुतली मात्र है। चन्द्रगुप्त का व्यक्तित्त्व केवल चौथे अंक में थोड़ा-सा निखर कर ऊपर उठ सकता है जब वह राजा का उत्तरदायित्व समझता है।

(9) उदारमना एवं तेजस्वी–चन्द्रगुप्त का हृदय काफी उदार है। वह चाणक्य की डाँट-डपट का कभी भी बुरा नहीं मानता। वह चाणक्य को अपना सच्चा गुरु मानकर उसके प्रत्येक आदेश को स्वीकार कर लेता है। उसकी यह उदारता शत्रुओं

के प्रति भी देखी जा सकती है। मालव युद्ध में वह आहत सिकन्दर को ले जाने के लिए सिल्यूकस को रास्ता देता है औ कहता है—**"जाओ सेनापति! सिकन्दर का जीवन बच जाए तो फिर आक्रमण करना"** एक अन्य स्थल पर वह सिल्यूकस को हरा देता है, लेकिन साथ ही उसे शिविर में सुरक्षित पहुँचाकर कहता है—**"यवन सम्राट! आर्य कृतघ्न नहीं होते, आपको सुरक्षि स्थान पर पहुँचा देना मेरा कर्तव्य था।"** लेकिन इसके साथ-साथ चन्द्रगुप्त में कृतज्ञता की भावना भी देखी जा सकती है। जब सिल्यूकस के साथ उसका युद्ध चल रहा होता है तो सिंहरण उसकी सहायता के लिए वहाँ जाता है। उसे वहाँ देखकर बिन दुर्भावना को वह सिंहरण के प्रति अपनी कृतज्ञता को प्रकट करता हुआ कहता है—**"भाई सिंहरण बड़े अवसर पर आए।"**

लेकिन इसके साथ-साथ चन्द्रगुप्त एक तेजस्वी व्यक्ति भी है। सिकन्दर भी उसे देखकर आश्चर्यचकित हो जाता है और दाण्ड्यायन तो बिना किसी शंका के उसे भारत का भावी सम्राट् होने का आशीर्वाद देता है। अपनी तेजस्विता के कारण ही चन्द्रगुप्त निर्भीकतापूर्वक ग्रीक शिविर में विचरण करता है और वहाँ से कुशलतापूर्वक बाहर निकल आता है। चाणक्य भी उसकी तेजस्विता से अत्यधिक प्रभावित है। इसलिए वह चन्द्रगुप्त को मगध के सिंहासन के लिए उचित व्यक्ति मानता है। एक स्थल पर पर्वतेश्वर को लक्ष्य करके चाणक्य चन्द्रगुप्त के बारे में कहता है—**"क्षत्रिय के शस्त्र धारण करने पर आर्त वाणी नहीं सुनाई पड़नी चाहिए, मौर्य चन्द्रगुप्त ही क्षत्रिय प्रमाणित होगा।"** नाटक के अंत में स्वयं पर्वतेश्वर चन्द्रगुप्त की महत्ता को स्वीकार करते हुए कहता है—**"मैं क्षमता रखते हुए भी जिस कार्य को न कर सका, वह कार्य निःसहाय चन्द्रगुप्त ने किया.... मैं विश्वस्त हृदय से कहता हूँ कि चन्द्रगुप्त आर्यवर्त्त का एकछत्र सम्राट् होने के उपयुक्त है।"**

(10) आज्ञाकारी शिष्य और सच्चा राष्ट्र-भक्त–इसके साथ-साथ चन्द्रगुप्त एक सच्चा गुरुभक्त और आज्ञाकारी शिष्य है। वह चाणक्य को अपना गुरु मानता है और हमेशा उनकी आज्ञा का पालन करता है। उसके जीवन की प्रत्येक गतिविधि चाणक्य द्वारा संचालित है। यद्यपि अपने पिता मौर्य सेनापति के प्रसंग में वह चाणक्य को कुछ कड़वी बातें कह जाता है, लेकिन वह यह बात भली प्रकार से जानता है कि चाणक्य ही उसका सच्चा पथ-प्रदर्शक है। वह चाणक्य की दूरदर्शिता, स्नेह और धृष्ट बुद्धि से अत्यधिक प्रभावित है। नाटक के आरम्भ में वह अपनी गुरु भक्ति दिखाता हुआ कहता भी है—**"गुरुदेव विश्वास रखिए यह सब कुछ नहीं होने पावेगा यह चन्द्रगुप्त आपके चरणों की शपथपूर्वक प्रतिज्ञा करता है कि यवन यहाँ कुछ न कर सकेंगे।"**

यद्यपि चन्द्रगुप्त का मन अनेक स्थलों पर अन्तर्द्वन्द्वग्रस्त दिखाई देता है। उसके हृदय में निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। एक स्थल पर वह मालविका से कहता भी है—**"संघर्ष! युद्ध देखना चाहो तो मेरा हृदय फाड़कर देखो मालविका, आशा-निराशा का युद्ध, भावों और अभावों का द्वन्द्व कोई कमी नहीं, फिर भी न जाने कौन मेरी सम्पूर्ण सूची में रिक्त चिह्न लगा देता है।"** नाटक में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ वह मन-ही-मन संघर्ष करता हुआ दिखाई देता है। लेकिन वह यह भी जानता है कि उसका यह अन्तर्द्वन्द्वग्रस्त जीवन राष्ट्र के कल्याण के लिए है, इसलिए वह सच्चा देश-सेवक बनकर निरन्तर कर्म में लगा रहता है। अपने देश की रक्षा के लिए वह हमेशा तत्पर दिखाई देता है। एक सच्चे देशप्रेमी के रूप में वह यवनों से युद्ध करता है और उनको हराकर देश से बाहर कर देता है। बाद में वह अयोग्य शासक नन्द को नष्ट करके अपने गुरु चाणक्य की आज्ञा के अनुसार सुव्यवस्थित राज्य की स्थापना करना है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उसका आन्तरिक संघर्ष और गुरु भक्ति सब कुछ राष्ट्र के लिए है। स्वतन्त्र राष्ट्र की स्थापना करना ही उसके जीवन का लक्ष्य है।

(11) कोमल हृदय व्यक्ति–भले ही चन्द्रगुप्त एक दृढ़ निश्चयी, स्वाभिमानी, निर्भीक, साहसी और कर्तव्यपरायण व्यक्ति है, लेकिन उसके व्यक्तित्त्व का एक कोमल पक्ष भी देखा जा सकता है। कल्याणी, मालविका तथा कार्नेलिया के प्रणय प्रसंगों में उसके हृदय की कोमलता को देखा जा सकता है। चन्द्रगुप्त निरन्तर संघर्षों से जूझता रहता है। उसे जीवन में एक अभाव निरन्तर खटकता रहता है। यदा-कदा उसके मन की कोमल भावनाएँ मुखरित हो उठती हैं। वह रण-भेरी से पहले मुरली की मधुर तान सुनना चाहता है और कभी वह किसी की सरलता पर मुग्ध हो जाता है। उसके मन में कार्नेलिया के प्रति भी प्रेम-भाव है। कल्याणी के प्रति भी उसका आकर्षण है और मालविका का मूक प्रतिदान भी उसके मन को चंचल कर देता है। मालविका के समक्ष वह अपने मनोगत भावों को प्रकट करता हुआ कहता है—**"संघर्ष! युद्ध! देखना चाहो तो मेरा हृदय फाड़ कर देखो मालविका, आशा और निराशा का युद्ध, भावों और अभावों का द्वन्द्व कोई कमी नहीं, फिर भी न जाने कौन मेरी सम्पूर्ण सूची में रिक्त चिह्न लगा देता है।"** अपनी हृदयगत कोमलता के कारण कल्याणी की हत्या के प्रसंग में तथा

आचार्य चाणक्य के प्रसंग में वह व्यथित हो उठता है और मालविका के प्राणोत्सर्ग पर उसके प्राण बेचैन हो जाते हैं और वह उसे स्वर्गीय कुसुम कहकर चुप रह जाता है। इस प्रकार कार्नेलिया, कल्याणी और मालविका तीनों प्रेमिकाओं के माध्यम से चन्द्रगुप्त के हृदय की कोमलता का परिचय प्राप्त होता है।

निष्कर्षत–हम कह सकते हैं कि चन्द्रगुप्त एक तेजस्वी, आत्माभिमानी, पराक्रमी, निर्भीक और साहसी व्यक्ति है। उसके चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता उसकी कर्तव्यपरायणता है। वह एक कुशल योद्धा, स्वतन्त्रता प्रेमी और न्यायप्रिय राजा है। भले ही चाणक्य उसका नियामक है, लेकिन फिर भी उसी को फल-प्राप्ति होती है और वही नाटक की मूल संवेदना का वहन करता है तथा उसी के नाम पर नाटक का नामकरण हुआ है। इसलिए वही इस नाटक का नायक कहलाने के योग्य है।

◆◆◆

3. 'चन्द्रगुप्त' नाटक में राष्ट्रीयता

3. 'चन्द्रगुप्त' शीर्षक नाटक में अभिव्यक्त राष्ट्रीयता का उल्लेख कीजिए। (Most. Imp.)

अथवा

"'चन्द्रगुप्त' नाटक प्रसाद की राष्ट्रीय भावना का प्रतीक है" इस कथन पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

अथवा

'चन्द्रगुप्त' नाटक में नाटककार ने तत्कालीन इतिहास को राष्ट्रीयता के ढांचे में ढालने का सफल प्रयास किया है।" सप्रमाण समीक्षा कीजिए।

उत्तर–चंद्रगुप्त नाटक में राष्ट्रीयता–भारतीय नाट्य-रचना के तत्त्वों में वस्तु, नेता और रस का चिंतन किया गया है। लेकिन इन तीनों में भरत आदि नाट्यशास्त्रियों ने रस को सर्वाधिक प्रमुख स्थान दिया है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि भारतीय विद्वानों का ध्यान उद्देश्य की ओर न गया हो। नाट्यशास्त्रियों ने नाटक के कार्य का फल तीन प्रकार का स्वीकार किया है। इसमें मोक्ष को छोड़कर धर्म, अर्थ और काम की चर्चा की जा सकती है। लेकिन प्रसाद जी के नाटकों में धर्म, अर्थ और काम का अन्वेषण ठीक उस प्रकार से नहीं हो सकता, जिस प्रकार सांस्कृतिक साहित्य में उपलब्ध होता है। फिर भी हमें यह तो स्वीकार करना ही होगा कि कविवर प्रसाद एक सोद्देश्य कलाकार थे। प्रायश्चित्त, राज्यश्री, विशाख, जनमेजय का नागयज्ञ, कामना, स्कंदगुप्त आदि प्रसाद जी के सभी सोद्देश्य नाटक हैं। लेकिन पुरुषार्थ चतुष्टय की दृष्टि से 'चन्द्रगुप्त' एक महान् रचना है। उसके नायक चन्द्रगुप्त को अर्थ और काम की प्राप्ति तो होती ही है, लेकिन चाणक्य की सहायता से वह देश रक्षा रूपी धर्म की भी पूर्ति करता है। नाटक के अंत में चाणक्य भी संतुष्ट नजर आता है। वह कहता भी है–**"मेरा कर्म कुलाल अपना निर्मित भाण्ड उतार कर धर चुका? ठीक तो, प्रभात पवन के साथ सबकी सुख कामना शान्ति का आलिंगन कर रही है। देव! आज मैं धन्य हूँ।"**

इस दृष्टि से जयशंकर प्रसाद ने एक निश्चित दृष्टिकोण लेकर ही चन्द्रगुप्त की रचना की है। उन्होंने भले ही ऐतिहासिक कथानक को नाटक का आधार बनाया, लेकिन वे न तो वर्तमान से पलायन करते हैं, न ही अतीत के प्रति रोमांस रखते हैं। इस संदर्भ में वे स्वयं लिखते हैं–**"मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है, जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है। इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संघटित करने के लिए अत्यन्त लाभदायक होता है। ...... क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारे जलवायु के अनुरूप जो हमारी अतीत सभ्यता है, उससे बढ़कर उपयुक्त कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा या नहीं, इसमें मुझे पूर्ण सन्देह है।"**

प्रसाद जी भारत की दासता का मूल कारण आत्म-विस्मृति को मानते थे। पाश्चात्य वर्णन की बढ़ती हुई दासता को भी वे दूर करना चाहते थे। क्योंकि उस समय भारतीयों के हृदयों में पाश्चात्य संस्कृति ने हीन भावना तथा भ्रांति उत्पन्न कर दी थी। प्रसाद जी देशवासियों में शुद्ध भारतीय संस्कारों को उत्पन्न करने का प्रयास करते रहे। उस काल में हमारे देश पर विदेशियों की सार्वभौम सत्ता पूर्णतया स्थापित हो चुकी थी। इस विदेशी साम्राज्य को दूर करने के लिए भारतीय नेशनल कांग्रेस के द्वारा लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी, जवाहर लाल नेहरू आदि राष्ट्र-पुरुष प्रयत्नशील थे। हिन्दी साहित्य में प्रसाद युग राष्ट्रीय आन्दोलन का युग कहा जा सकता है।

1921 ई. तक तो सविनय अवज्ञा आन्दोलन ही चलता रहा। परन्तु सन् 1931 में असहयोग आन्दोलन बल पकड़ने लगा। दूसरी ओर जलियांवाला बाग, साईमन कमीशन आदि क्षोभकारी घटनाओं ने आग पर घी का काम किया और धीरे-धीरे देश का राजनैतिक वातावरण भयंकर बनता चला गया। फलस्वरूप विदेशी शासन की सत्ता डाँवाडोल हो गई। यद्यपि सन् 1952 में प्रसाद जी ने सैद्धांतिक रूप से खद्दर धारण करना आरंभ कर दिया था, परन्तु अपनी पारिवारिक कठिनाइयों तथा संकोची प्रवृत्ति के कारण उन्होंने किसी आंदोलन में खुलकर भाग नहीं लिया। लेकिन प्रसाद जी में राष्ट्रीय भावनाएँ कूट-कूट कर भरी हुई थीं। वे देश को स्वतंत्र देखना चाहते थे। इसलिए उन्होंने परोक्ष रूप से अपनी क्रान्तिकारी भावनाओं को नाटकों के माध्यम से अभिव्यक्त किया। वे चाहते थे कि भारतवासी उनके नाटकों को पढ़कर स्वतंत्रता संग्राम के महायज्ञ में भाग लेने के लिए प्रेरित हों। यही कारण है कि चन्द्रगुप्त नाटक को राष्ट्रीय प्रेम के अद्वितीय नाटकों की कोटि में रखा जा सकता है। बल्कि यह कहना अनुचित नहीं होगा कि चन्द्रगुप्त नाटक राष्ट्र-प्रेम को अभिव्यक्त करने वाली रचनाओं में सर्वाधिक प्रमुख नाट्य रचना है। इस संदर्भ में डॉ. शान्ति स्वरूप गुप्त ने उचित ही लिखा है–**"प्रसाद जी का आविर्भाव उस समय हुआ था जब देश में विदेशी शासन के प्रति क्रान्ति और विद्रोह की लहर दौड़ रही थी। सच्चे और जागरूक साहित्यकार के नाते तत्कालीन स्थिति के प्रति उपेक्षा भाव धारण करना प्रसाद जी के लिए संभव न था। अतः उन्होंने अपने नाटकों में राष्ट्रीयता का संदेश दिया है। यह संदेश कोई भी साहित्यकार दो रूपों में दे सकता है–जातीय अभिमान से मंडित पूर्व-पुरुषों की वीरता का गौरवगान करके तथा वर्तमान स्थिति की हीनता के प्रति पाठकों का ध्यान आकृष्ट कर उससे मुक्त होने की प्रेरणा देकर। प्रसाद जी के नाटकों में राष्ट्रीय भावना के यह दोनों ही रूप मिलते हैं।"**

'चन्द्रगुप्त' नाटक में व्याप्त राष्ट्रीयता की भावना को निम्नलिखित बिंदुओं के माध्यम से विवेचित किया जा सकता है–

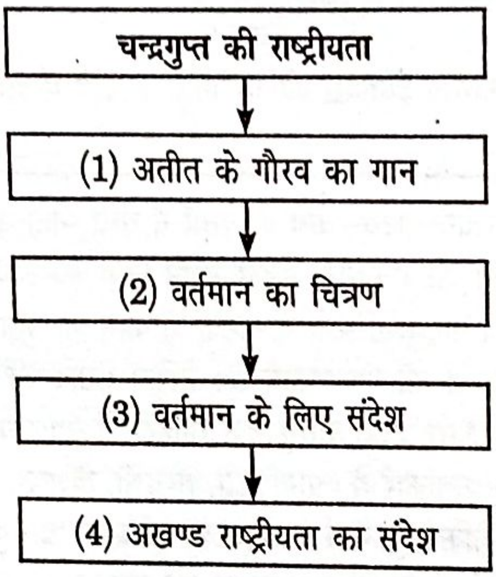

(1) अतीत के गौरव का गान –प्रसाद जी ने अपने सभी राष्ट्रीय नाटकों में भारत के प्राचीन गौरव का गान किया है। यही कारण है कि उन्होंने भारतीय इतिहास के उस उन्नत हिन्दू काल की प्रमुख घटनाओं को अपनी नाट्य रचना का आधार बनाया है, जिन पर भारतवासी गौरव कर सकते हैं। 'चन्द्रगुप्त' नाटक इतिहास को राष्ट्रीयता के ढाँचे में ढालने में सफल हुआ है। उस समय का भारत व्यक्तिगत वैमनस्य का शिकार बना हुआ था। दूसरी ओर आर्यावर्त्त का भविष्य लिखने के लिए कुचक्र और प्रताड़ना की लेखनी और मसि प्रस्तुत हो रही थी। उत्तरापथ के खण्ड-खण्ड राजा आपसी द्वेष के शिकार बने हुए थे और विदेशी शक्तियाँ सम्पूर्ण आर्यावर्त्त को पदाक्रान्त करना चाहती थीं। उस समय देश की राष्ट्रीयता छिन्न-भिन्न हो चुकी थी और छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गई थी। लेकिन भारतीय संस्कृति अभी भी अपनी गौरव गरिमा को सुरक्षित रखे हुए थी। चाणक्य जैसा महान् दूरदर्शी, कूटनीतिज्ञ अपने शिष्यों को राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ा रहा था। वह चाहता था कि भारतवासी प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता को त्याग कर पूरे देश की चिंता करें और संभावित यवन आक्रमण को निरस्त कर दें। एक स्थल पर वे अपने शिष्यों से कहते भी हैं–**"तुम मालव हो और यह मागध, यही तुम्हारे मान का अवसान है न? परन्तु आत्म-सम्मान इतने से ही संतुष्ट नहीं होगा। मालव और मागध को भूलकर जब उस आर्यावर्त्त का नाम लोगे तभी वह मिलेगा। क्या तुम नहीं देखते हो कि आगामी दिवसों में आर्यावर्त्त के सब स्वतंत्र राष्ट्र एक के अनन्तर दूसरी विदेशी विजेता से पद-दलित होंगे।"**

आत्म-गौरव, आत्म-निषेध और विश्व-प्रेम भारतीय संस्कृति और सभ्यता के मूल आधार हैं। प्रसाद के सभी राष्ट्रीय नाटक इन्हीं तीन तत्त्वों पर आधारित हैं। प्रसाद जी भारत की प्राचीन संस्कृति के गौरव की स्थापना करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने यत्र-तत्र भारत के अतीत गौरव का गान विभिन्न पात्रों के माध्यम से किया है। उदाहरण के रूप में चन्द्रगुप्त का यह कथन–**"भारतीय**

कृतघ्न नहीं होते, अतः आर्य लोग किसी भी निमन्त्रण को अस्वीकार नहीं करते, चाहे वह युद्ध का हो या मित्रता का।" सिंहरण का कथन देखिए—"भेंट के लिए मालव सब प्रस्तुत है चाहे सन्धि परिषद् में चाहे रणभूमि में।" भारतवासियों की अपनी विशेष गरिमा और गौरव है। विदेशी भी भारतीय संस्कृति से प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। क्योंकि भारतवासियों में विश्व-प्रेम की उत्कट भावना है। हमारी संस्कृति हमें किसी से घृणा करना नहीं सिखाती। विश्व बन्धुत्व की भावना भारतवासियों के चरित्र की प्रमुख विशेषता है। एक स्थल पर कार्नेलिया कहती भी है—"अन्य देश मनुष्यों की जन्म-भूमि है। यह भारत मानवता की भूमि है।" इसी प्रकार सिकंदर, सिल्यूकस आदि विदेशी पात्र भारतीय संस्कृति का गौरव-गान करते हुए नहीं थकते। सिकंदर का कथन देखिये—"आर्य वीर! मैंने भारत में हरक्यूलिस एचिलिस की आत्माओं को देखा और देखा डिमस्थनीज को। सम्भवतः प्लेटो और अरस्तु भी रहे होंगे। मैं भारत का अभिनन्दन करता हूँ। मैं तलवार खींचे भारत आया, हृदय देकर जाता हूँ, विस्मय विमुग्ध हूँ।"

राष्ट्रीय अपमान का हस्तक्षेप भी प्रसाद जी आवश्यक मानते थे। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में सिकंदर आहत हो जाता है। यदि सिंहरण चाहता तो वह बड़ी आसानी से उसका वध करवा सकता था, लेकिन वह अपने सैनिकों से कहता है कि—"ठहरो! मालव वीरो ठहरो! यह भी एक प्रतिशोध है। यह भारत के ऊपर एक ऋण था। पर्वतेश्वर के ऊपर उदारता दिखाने का यह प्रतियोत्तर है। यवन शीघ्र जाओ।" यही है भारतीय संस्कृति का गौरव जिसका गान प्रसाद जी ने इस नाटक के माध्यम से किया है, जबकि विदेशी यवन तो इस प्रकार के उदात्त विचारों से सर्वथा हीन थे। इस संदर्भ में पृथ्वीराज चौहान और मुहम्मद गौरी का प्रसंग हमारे सामने है।

'चन्द्रगुप्त' नाटक के सभी पात्र स्वाभिमानी हैं। विशेषकर सिंहरण के किसी भी कथन में संकीर्ण भावना नहीं है। एक स्थल पर वह स्पष्ट कहता है—"परन्तु मेरा देश मालव ही नहीं, गांधार भी है। यहीं का समग्र आर्यावर्त्त है।" उधर अलका युद्ध के समय न केवल जनता को एकत्रित करती है, अपितु उन्हें राष्ट्र के उत्थान के लिए उद्धत भी करती है। वह कहती भी है—"तक्षशिला के वीर नागरिको! एक बार अभी-अभी सम्राट् चन्द्रगुप्त ने इसका उद्धार किया था। आर्यावर्त्त—प्यारा देश ग्रीकों की विजय लालसा से पुनः पद-दलित होने जा रहा है। तब तुम्हारा शासक तटस्थ रहने का ढोंग करके पुण्यभूमि को परतंत्रता की शृंखला पहनाने का दृश्य राजमहल के झरोखे से देखेगा। राजा कायर है और तुम?" अलका का गीत मातृभूमि के सपूतों को देश की बलि-वेदी पर प्राण न्योछावर करने का उद्‌बोधन गीत है।

अलका राष्ट्रीय-प्रेम से प्रेरित होकर तक्षशिला के नागरिकों में राष्ट्र-प्रेम का मंत्र फूँकती है। वह नागरिकों के साथ स्वर में स्वर मिलाकर कहती है—

> **"हिमाद्रि तुंग शृंग से**
> **प्रबुद्ध शुद्ध भारती**
> **स्वयं प्रभा समुज्ज्वला**
> **स्वतंत्रता पुकारती**
> **अमर्त्य वीरपुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो,**
> **प्रशस्त पुण्य पंथ है— बढ़े चलो, बढ़े चलो।"**

(2) वर्तमान का चित्रण—'चन्द्रगुप्त' नाटक में प्रसाद जी ने जहाँ एक ओर अतीत गौरव का गान किया है, वहीं दूसरी ओर वर्तमान के प्रति भी अपनी चिंता व्यक्त की है। वे देश की वर्तमान स्थिति की जर्जरता, अधोगति को सुधारने की प्रेरणा देते हैं। यही कारण है कि उन्होंने प्राचीन इतिहास की अविभूतियों को रंग-मंच पर लाकर खड़ा किया जो वर्तमान नागरिकों को प्रेरणा देने में समर्थ हैं। मौर्यकालीन कथानक को नाटक का आधार बनाकर उन्होंने यवन सम्राट् सिकंदर के माध्यम से ब्रिटिश सत्ता के अत्याचारों पर प्रकाश डाला है। तत्कालीन बौद्ध-ब्राह्मण संघर्ष के द्वारा नाटककार तत्कालीन साम्प्रदायिकता और वैमनस्य के कारण खण्डित राष्ट्रीयता का चित्र उपस्थित करना चाहता है। पूरे देश को एकता की डोर में बाँधना लेखक का प्रमुख उद्देश्य है। चाणक्य ही उस समय का गाँधी कहा जा सकता है। अलका तथा सिंहरण जैसे युवक-युवतियाँ वर्तमान काल के देशप्रेमी नागरिक हैं जिन्होंने गाँधी जी का साथ दिया और देश को आजाद कराया। इस सम्बन्ध में **डॉ. जगन्नाथ प्रसाद शर्मा** ने उचित ही लिखा है—"चन्द्रगुप्त में जिस प्रकार राष्ट्रीय जागरण का उन्होंने चित्रण किया और उसका जैसा विस्तार संगठित हुआ है, उसके मूल में आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप झलकता है। आर्य-पताका लेकर जो अलका देश-प्रेम का अलख जगाती फिरती है, उसमें आधुनिकता का सच्चा रूप दिखाई देता है। चाणक्य, सिंहरण और चन्द्रगुप्त के बीच जिस राष्ट्रीय भावना की चर्चा होती है, उसका भी यही रूप है। पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी जो इतना अधिक देश व्रत का संकल्प लिए दिखाई पड़ती हैं तथा पुरुषों की

चिरसंगिनी बनकर उनके उद्योग में योग दे रही हैं उसके मूल में भी वर्तमान युग की प्रवृत्ति ही है। बौद्ध-वैदिक धर्मों की ओट, जो नन्द की मूर्ख प्रजा नचाई जा रही हैं, वह हिन्दू-मुस्लिम भेद-भाव का अच्छा चित्रण है।"

डॉ. जगदीश चंद्र जोशी भी लिखते हैं—"गाँधी जी ने विदेशी बहिष्कार के समय कहा था कि—'हमें ब्रिटिश साम्राज्यवाद से घृणा हो सकती है, ब्रिटेन या अंग्रेजों से नहीं। उन्हें हम प्रेम से जीतेंगे और इस संघर्ष में हमारा अस्त्र होगा—अहिंसा।' यह कथन स्वतः ही हमारा ध्यान चाणक्य की उस महान् राजनीतिक विजय की ओर आकृष्ट कराती है जिसमें सिकंदर भारत छोड़कर अवश्य परन्तु भारत-मैत्री का हाथ बढ़ाकर, सिल्यूकस हारकर यूनान लौटा सही, किन्तु भारत की कार्नेलिया के स्नेह-बंधन में बँध कर—'भारतीय युद्ध करना जानते हैं, द्वेष नहीं।' इन शब्दों में प्रसाद ने भारत के राजनीतिक भविष्य को देख लिया था।" अलका यदि राष्ट्र की भावना से प्रेरित होकर कहती है—"मेरा देश है, मेरे पहाड़ हैं और मेरे जंगल हैं। इस भूमि के एक-एक परमाणु मेरे हैं। मेरे शरीर के एक-एक क्षुद्र अंग उन्हीं परमाणु से बने हैं।" विदेशी कन्या होकर भी कार्नेलिया भारत की प्राकृतिक संपदा का यशोगान करती हुई राष्ट्रीय-प्रेम का संदेश देती है—

"अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ विवाह पर नाच रही तरुशिखा मनोहर।
छिटका जीवन हरियाली पर-मंगल कुंकुम सारा।
लघु सुरधनु से पंख पसारे-शीतल मलय समीर सहारे।
उड़ते खग जिस ओर मुँह किए-समझ नीड़ निज प्यारा।"

(3) **वर्तमान के लिए संदेश**—चन्द्रगुप्त नाटक में देश-प्रेम की भावना के अतिरिक्त यह संदेश भी विद्यमान है कि हम उन त्रुटियों को बार-बार न दोहराएँ जो हमारी पराधीनता का कारण बनीं तथा जिनके फलस्वरूप हमारा पतन हुआ। नाटककार ने 'चन्द्रगुप्त' में उस युग को प्रस्तुत किया है जब भारत की अस्मिता खतरे में थी। एक ओर तो सिकन्दर विश्व-विजय की आकांक्षा मन में लेकर हमारे देश की ओर अग्रसर हो रहा था। दूसरी ओर आम्भीक जैसा देशद्रोही धन के लालच और पर्वतेश्वर से प्रतिशोध लेने के लिए शत्रु का ही साथ दे रहा था। पर्वतेश्वर अपनी कुलीनता और शौर्य-गर्व के कारण किसी के साथ मिलकर देश की रक्षा करने के लिए तैयार नहीं था। बल्कि वह अकेला सिकंदर को पराजित करने के सपने देख रहा था। दूसरी ओर, मगध सम्राट् नंद सुरा और सुन्दरी के नशे में अपने कर्तव्य से विमुख होकर भोग-विलास में लीन था। पूरा देश छोटे-छोटे खण्डों में विभक्त था। इस मुसीबत की घड़ी में भावी संकट के प्रति कोई भी चिन्तित दिखाई नहीं दे रहा था। जो कोई व्यक्ति मगध सम्राट् नंद को सद्-परामर्श देता था, उसे दण्डित किया जाता था, बल्कि वह भेदनीति को अपनाकर अपनी शक्ति का संग्रह करने में लगा था। सम्पूर्ण राष्ट्रीय मंच पर चाणक्य, चन्द्रगुप्त, सिंहरण, अलका जैसे ही कुछ गिने-चुने पात्र थे, जिन्होंने देश की बागडोर को सँभाला। इस प्रकार की परिस्थितियाँ हमारे देश में सदा रही हैं। आज भी हमारा देश धर्म, जाति, भाषा, प्रान्तीयता आदि के कारण खण्ड-खण्ड दिखाई देता है। नाटककार बार-बार यही संदेश देना चाहता है कि हम देश की अतीत घटनाओं से कुछ शिक्षा प्राप्त करें और उस प्रकार के इतिहास को न दोहराएँ जिससे हमारी राष्ट्रीय एकता भंग होती है। नाटककार ने प्रस्तुत नाटक के द्वारा आज के भारत की कुछ समस्याओं का समाधान करने का प्रयास किया है।

'चन्द्रगुप्त' नाटक का प्रकाशन सन् 1921 में हुआ। इससे पूर्व पहला विश्व युद्ध हो चुका था जिसके कारण विश्व संस्कृति को विनाश के दृश्य देखने पड़े थे। हमारा देश भी इससे प्रभावित हुए बिना न रह सका। भारत में ब्रिटिश शासन साम्राज्य की जड़ें मजबूत होती जा रही थीं। लेकिन बंग-भंग की घटना के बाद स्वराज्य प्राप्ति का नारा बुलंद होने लगा था। भारतीय सभ्यता-संस्कृति के प्रति लोगों के मन में एक बार पुनः सम्मान की भावना उत्पन्न हो चुकी थी। ऐसे काल में प्रसाद ने मौर्यकालीन कथानक को लेकर इस नाटक की रचना की। लेखक ने तत्कालीन भारत की राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का वर्णन प्रस्तुत नाटक के माध्यम से किया है। डॉ. रामसेवक पाण्डेय लिखते भी हैं—"**समग्र राष्ट्र को एक सुगठित तथा लोकप्रिय शासन के अधीन रखने की भावना का विकसित रूप 'चन्द्रगुप्त' में प्राप्त है। धर्म और सम्प्रदायों की संकुचित मनोवृत्तियों का त्याग कर उदारता अपनाने से ही राष्ट्र स्वतंत्र रह सकेगा तथा अपने गौरव और सांस्कृतिक सौष्ठव की रक्षा में समर्थ हो सकेगा।**" 'चन्द्रगुप्त' नाटक के रचनाकाल में हमारे देश के लिए इस प्रकार के ही विचारों की अत्यधिक आवश्यकता थी। स्वतंत्रता की आग सम्पूर्ण देश में फैल चुकी थी। ब्रिटिश शासक '**फूट डालो और राज करो**' की नीति अपनाकर भारतीयों को संगठित होने से रोक रहे थे। उधर विभिन्न

सम्प्रदाय भी अपने-अपने धर्मों का प्रचार करने में लगे हुए थे। इसीलिए लेखक ने चाणक्य के मुख से यह कहलवाया है—"**सच है बौद्ध आमात्य परन्तु यवन आक्रमणकारी बौद्ध-ब्राह्मण का भेद न रखेंगे।**" यह कथन राष्ट्र-प्रेम के लिए नितान्त आवश्यक था।

(4) अखण्ड राष्ट्रीयता का संदेश—'चन्द्रगुप्त' नाटक पाठकों को अखण्ड राष्ट्रीयता का संदेश भी प्रदान करता है। चाणक्य का कथन देखिए—"**तुम मालव हो और ये मागध। यही तुम्हारे मान का अवसान है न? ...... मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त्त का नाम लोगे, तभी वह मिलेगा। क्या तुम नहीं देखते कि आगामी दिवसों में आर्यावर्त्त के सभी स्वतंत्र राष्ट्र एक के अनन्तर दूसरे विदेशी विजेता से पद-दलित होंगे?**" चाणक्य का यह कथन अखण्ड राष्ट्रीयता का संदेश देता है। चाणक्य चन्द्रगुप्त, सिंहरण आदि की सहायता से अखण्ड तथा निर्विघ्न आर्य साम्राज्य की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थे। वे इस तथ्य से भली प्रकार परिचित थे कि प्रादेशिक प्रेम से अथवा संकीर्णता से राष्ट्र की रक्षा नहीं हो सकती। राष्ट्रीय एकता से ही राष्ट्र सुदृढ़ होते हैं। चाणक्य भी राष्ट्रीय एकता के लिए ही प्रयत्नशील था। चाणक्य के सहयोग से ही चन्द्रगुप्त ने क्षुद्रक, मालव, पंचनंद, यौधेय आदि गणतन्त्रों को मिलाकर दक्षिण से स्वर्णगिरी तक आर्य साम्राज्य की स्थापना की थी। एक स्थल पर सिंहरण अलका को इसी प्रकार का संदेश देता हुआ कहता है कि मेरा देश मालव ही नहीं, गांधार भी है। यही क्या समग्र आर्यावर्त है और अलका भी स्वयं को आर्यावर्त की बालिका समझने लगती है। आगे चलकर अलका सम्पूर्ण विश्वास के साथ राष्ट्रीय एकता का संदेश देती हुई कहती है—"**राज्य किसी का नहीं है। वह सुशासन का है। भाई! तक्षशिला तुम्हारी नहीं और हमारी भी नहीं। तक्षशिला आर्यावर्त्त का एक भू-भाग है। वह आर्यावर्त्त की होकर रहे—इसके लिए मर मिटो।**" इस प्रकार पात्रों के मुख से राष्ट्रीयता का संदेश देकर लेखक वर्तमान भारतवासियों को अखण्ड राष्ट्रीयता का संदेश देता है। एक ओर अलका कहती है—"**मेरा देश है, मेरे पहाड़ हैं, मेरी नदियाँ और मेरे जंगल हैं। इस भूमि के एक-एक परमाणु मेरे हैं। मेरे शरीर के एक-एक शूद्र अंश उन्हीं परमाणुओं से बने हैं।**" जहाँ कार्नेलिया भारत की प्राकृतिक संपदा का वर्णन करती है, वहाँ एक गीत द्वारा वह अखण्ड राष्ट्रीयता का संदेश भी देती है—

"अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।"

डॉ. रामसेवक पाण्डेय अपनी पुस्तक "प्रसाद की नाट्यकला" में लिखते भी हैं—"**प्रसाद की राष्ट्रीयता में क्षमा और उदारता को बहुत महत्त्व दिया गया है। उनकी राष्ट्रीयता साधारण प्रचलित अर्थ से अधिक व्यापक और प्रशस्त है। राष्ट्रीय आदर्श में धर्म और क्षमा के भाव अन्तर्निहित हैं। शत्रु पर शस्त्र द्वारा विजय प्राप्त कर लेने मात्र से ही राष्ट्रीय आदर्श की रक्षा नहीं होती है। शत्रु के हृदय को उदारता और त्याग से जीतना प्रसाद की राष्ट्रीयता का लक्ष्य है। सबके अधिकारों की रक्षा का भाव राष्ट्रीय आदर्श की सीमा के अंदर है। भारतवर्ष केवल अपने सुख और शान्ति से ही संतुष्ट नहीं वरन् उसके राष्ट्रीय आदर्श में सभी राष्ट्रों की स्वाधीनता और उनके सुख तथा समृद्धि की कामना भी है। प्रसाद जी ने इस उदात्त आदर्श को विविध स्थलों पर व्यक्त किया है।**"

निष्कर्ष—इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटककार प्रसाद 'चन्द्रगुप्त' नाटक के माध्यम से अपने पाठकों को राष्ट्रीय चेतना का संदेश देना चाहते हैं। वे भले ही एक संकोची व्यक्ति थे और उन्होंने खुल कर स्वतंत्रता संग्राम में भाग भी नहीं लिया, परन्तु राष्ट्र के प्रति उनकी चिंता अत्यधिक गंभीर थी। इसीलिए डॉ. दशरथ ओझा ने लिखा भी है—"**प्रसाद जी जिस प्रवृत्ति और उद्देश्य को लेकर नाटक-निर्माण में तल्लीन हुए थे, उसका चरम उत्कर्ष चन्द्रगुप्त नाटक में प्रकट होता है।**" चाणक्य, चन्द्रगुप्त, सिंहरण, अलका, मालविका आदि सभी पात्र राष्ट्रीय चेतना का संदेश प्रसारित करते हुए दिखाई देते हैं। सम्पूर्ण नाटक राष्ट्रीय चेतना से जुड़ा हुआ है। अंत में डॉ. हरीन्द्र का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है—"**सरस साहित्यकार के अतिरिक्त प्रसाद जी भारतीय-दर्शन एवं संस्कृति के मर्मज्ञ भी थे। प्रसाद जी की यह निष्ठा थी कि यदि भारतवर्ष को भारतवर्ष ही रहना है, तो उसे अपने दर्शन और संस्कृति का अनुगमन करते हुए युगानुरूप विज्ञान आदि का संकलन करना चाहिए। यही कारण है कि अपनी नाट्य-रचना के माध्यम से उन्होंने दार्शनिक एवं सांस्कृतिक उद्देश्यों को मौलिक रूप में प्रस्तुत किया है। उनके नाट्य-साहित्य का सबसे प्रबल स्वर राष्ट्रीयता का है। राष्ट्रीय जीवन से सम्बद्ध अनेकानेक समस्याओं का राष्ट्रीय दृष्टिकोण से गंभीर विचार का जो वे समाधान प्रस्तुत करते हैं, वह केवल बुद्धि गम्य ही नहीं है, अपितु हमारे हृदयगत शुद्ध संस्कारों को स्पर्श करने के कारण भावोद्रेक करने में भी सक्षम है। उनकी राष्ट्रीय भावना किसी विदेशी तत्त्व ज्ञान पर आधारित न होकर पूर्णतः स्वदेशी है, किन्तु साथ-ही-साथ प्रसाद जी ने राष्ट्रीयता का विनाशकारी रूप ग्रहण न करके उसे विश्व-शान्ति का माध्यम बनाया है।**"

◆◆◆

5. चाणक्य का चरित्र-चित्रण

5. **'चन्द्रगुप्त' नाटक के आधार पर चाणक्य का चरित्र-चित्रण कीजिए।** **(Imp.)**

अथवा

'चन्द्रगुप्त' नाटक में प्रसाद की सबसे बड़ी देन है–'चाणक्य'–इस कथन के सन्दर्भ में चाणक्य का चरित्र-चित्रण कीजिए।

उत्तर–चाणक्य का चरित्र-चित्रण–प्रस्तुत नाटक 'चन्द्रगुप्त' में चाणक्य एक महत्त्वपूर्ण पुरुष पात्र है। कभी-कभी तो वह चन्द्रगुप्त की अपेक्षा भी अधिक महत्त्वपूर्ण पात्र दिखाई देता है। चाणक्य का चरित्र घटनाओं और स्थितियों के साथ निरन्तर विकसित होता चला जाता है और अन्त में प्रखरता प्राप्त कर लेता है। यही कारण है कि डॉ. शान्ति स्वरूप गुप्त, डॉ. दशरथ शर्मा, प्रो. भूषण स्वामी आदि आलोचकों ने चाणक्य को इस नाटक का नायक भी सिद्ध करने का प्रयास किया है। प्रस्तुत नाटक के आरम्भ में कथानक का आरम्भ भी चाणक्य से होता है और अन्त भी चाणक्य से। चाणक्य नाटक के सभी प्रसंगों और घटनाओं से जुड़ा हुआ है। इसलिए डॉ. शांति स्वरूप लिखते भी हैं–**"चाणक्य एक ऐसे भारत का स्वप्न देखता है जो छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त न हो और एक अखण्ड सार्वभौम राज्य हो। यही नाटक का फल हो, नाटक का समस्त कार्य व्यापार इसी फल की ओर ही उन्मुख है। चाणक्य भी इसके लिए सर्वाधिक प्रयत्नशील है। वही इसका बीज बोता है, उसे पल्लवित करता है और फल प्राप्त होते ही निष्काम भाव से कर्म पथ से हट जाता है। .... अतः चाणक्य ही नाटक का नायक है।"** परन्तु डॉ. गुप्त के इस कथन से सहमत होना बड़ा ही कठिन है, क्योंकि वह नाटक के फल का भोक्ता ही नहीं है, भोक्ता तो चन्द्रगुप्त ही है। इसलिए जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने कहा है–**"चाणक्य तो मौर्य के साथ तपस्या में निरत होने के लिए कर्मक्षेत्र के रंगमंच को छोड़कर चला जाता है। अतएव, फल का उपभोक्ता वह हो ही नहीं सकता। जो नाटकीय फल का उपभोक्ता नहीं माना जा सकता, वह उस नाटक का नायक भी नहीं हो सकता।"** अतः शास्त्रीय दृष्टि से भले ही चाणक्य इस नाटक का नायक न हो, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसका व्यक्तित्त्व सर्वाधिक प्रभावशाली है। नाटक की सभी घटनाओं और स्थितियों में उसी का योगदान है। उसका व्यक्तित्त्व अत्यधिक प्रभावशाली और अभूतपूर्व है। इसलिए **प्रो. भूषण स्वामी** ने लिखा है–**"चाणक्य एक ऐसा रूढ़ पात्र है, जिसके ऊपर विघ्न बाधाओं आदि का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता है। वह एक ऐसा पत्थर है जिसके स्पर्श से लोग निखर तो सकते हैं किन्तु उस पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं छोड़ सकते। पूरे नाटक ही क्या, प्रसाद-साहित्य में वह अकेला पात्र है, जो गगन-सा गम्भीर, समुद्र-सा विशाल, धरती-सा क्षमाशील एवं शत्रु-शत्रु अनल-सा भयंकर है।"** उसके चरित्र की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

चाणक्य का चरित्र-चित्रण

↓

(1) दूरदर्शी कूटनीतिज्ञ

↓

(2) स्वाभिमानी ब्राह्मण

↓

(3) दृढ़ निश्चयी व्यक्ति

↓

(4) सुयोग्य राजनीति-विशारद

(5) कठोर एवं क्रूर व्यक्ति

↓

(6) महान् उद्देश्य से सम्बद्ध

↓

(7) क्षमाशील

↓

(8) अन्तर्द्वन्द्वग्रस्त

↓

(9) ब्राह्मणत्व का सच्चा व्याख्याकार

(1) दूरदर्शी कूटनीतिज्ञ–चाणक्य के दूरदर्शी होने का पता हमें नाटक के आरम्भ में ही चल जाता है जब वह अपनी शिष्यमण्डली को आई हुई विपत्ति की ओर से सावधान करता हुआ कहता है, **"आर्य जाति पतन के कगार पर खड़ी एक धक्के की राह देख रही है।"** उसने यह भी अनुभव कर लिया था कि, **"आर्यवर्त्त के स्वतन्त्र राष्ट्र एक के अनन्तर दूसरे विदेशी विजेता के पद-दलित होंगे।"** चाणक्य ने दूरदर्शी होने के कारण यह पहले से पता लगा लिया था कि समय आने पर चन्द्रगुप्त और सिंहरण को शस्त्रों का प्रयोग करना पड़ेगा, इसलिए उसने सिंहरण को सावधान रहने का और चन्द्रगुप्त को मगध जाकर सभी साधन जुटाने के आदेश दिए। अपने शौर्य-अभिमान में अन्धे हुए पर्वतेश्वर की पराजय का भी चाणक्य को पहले से ही पता चल गया था और उसे चेतावनी भी दे दी थी। इसी प्रकार मगध की क्रान्ति को भी उसने पहचान लिया था। मालव-क्षुद्रकों की इकट्ठी सेना का सेनापति भी चन्द्रगुप्त को बनाकर न केवल उसने अपनी अद्भुत राजनैतिक दूरदर्शिता का परिचय दिया, बल्कि उसने तो सिकन्दर और सिल्यूकस की पराजय की भी घोषणा कर दी थी। मगध-क्रान्ति पर सफलता प्राप्त करने के बाद उसने चन्द्रगुप्त को तुरन्त ही दक्षिण-विजय के लिए भेजकर अपने दूरदर्शी होने का परिचय दिया। वे जो लक्ष्य प्राप्त करना चाहते थे, उसमें पर्वतेश्वर और कल्याणी दोनों ही बाधा डालने वाले हैं। इस बात को उसने अपनी दूरदर्शिता के कारण पहले से ही पहचान लिया था और लक्ष्य की प्राप्ति होते ही उसने उनको समाप्त कर दिया। वास्तव में चाणक्य ने उचित ही कहा है कि, **"वर्तमान भारत की नियति मेरे हृदय पर जलद-पटल पर बिजली के समान नाच उठती है।"**

(2) स्वाभिमानी ब्राह्मण–स्वाभिमानी ब्राह्मण चाणक्य शुरू से ही निर्भीक और स्पष्ट बोलने वाला है। तक्षशिला में रहकर भी तक्षशिलाधीश आम्भीक को वह स्पष्ट शब्दों में कह देता है, **"ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता है और न किसी के अन्न से पलता है, स्वराज्य में विचरण करता है और अमृत होकर जीता है।"** प्रचण्ड मगध नरेश नन्द की भरी सभा में वह भयरहित होकर घोषणा करता है कि **"समय आ गया है कि क्षुद्र राजसिंहासन से हटाए जायें और सच्चे क्षत्रिय मूर्धाभिषिक्त हों।"** नन्द वंश के विनाश की प्रतिज्ञा उसकी निर्भीकता का ही परिचय देती है। सिकन्दर के साथ युद्ध शुरू होने से पहले ही पराक्रमी पर्वतेश्वर को वह स्पष्ट शब्दों में चेतावनी देता है–**"आसन्न यवन-युद्ध में शौर्य गर्व से तुम पराभूत होंगे।"** बन्दी बनाए जाने पर भी वह अमात्य राक्षस को सम्बोधित करते हुए निर्भय होकर उसे कहता है–**"मैं कुत्ते को कुत्ता ही बनाना चाहता हूँ। नीचों के हाथ में इन्द्र का अधिकार चले जाने से जो सुख होता है, उसे मैं भोग रहा हूँ।"**

(3) दृढ़ निश्चयी व्यक्ति–चाणक्य दृढ़ निश्चयी है। अपने निश्चय पर दृढ़ रहने की उसमें अपूर्व क्षमता है। किसी की खुशी-दुःख, किसी प्रकार की अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियाँ उसे अपने निश्चय से बिल्कुल भी विचलित नहीं कर सकतीं। उसने कभी भी जो कुछ सोचा और कहा उसने वह कर दिखाया, निराश होना वह बिल्कुल नहीं जानता। नन्द राजा ने उसे अपमानित करके जेल में डाल दिया, पर्वतेश्वर ने भी अपमानित करके उसे राज्य से निकाल दिया, सम्राट् चन्द्रगुप्त के माता-पिता भी उसके व्यवहार से खुश नहीं थे, स्वयं चन्द्रगुप्त ने भी उससे प्रश्न किए, लेकिन चाणक्य किसी भी प्रकार के विरोध की चिन्ता किए बिना अपने निश्चय पर अटल रहा। जितनी अधिक-से-अधिक मुसीबतें उसके रास्ते में रुकावट बनती हैं, उतना ही उसका निश्चय और दृढ़ बनता है और उसकी बुद्धि और अधिक कार्य करने के लिए तत्पर हो उठती है। जिस प्रकार पौधे अंधकार में बढ़ते हैं, उसी प्रकार उसकी **"नीति-लता विपत्ति-तम में लहलहाती है।"**

(4) सुयोग्य राजनीति-विशारद–चाणक्य एक राजनीति-विशारद के रूप में जगत् विख्यात व्यक्ति है। **चन्द्रगुप्त नाटक में उसके चरित्र की राजनैतिक विशिष्टता पूरी गरिमा के साथ आगे बढ़ी है। "नाटक के आरम्भ से लेकर अन्त तक वह अपनी बुद्धि, तर्क तथा राजनैतिक विद्वता का उपयोग विभिन्न स्थलों पर अनेक रूपों में पूर्ण विश्वास से करता है और उसे सफलता प्राप्त होती है।"** वास्तव में उसकी कूटनीति और बुद्धि उसके सभी व्यापारों को चमत्कृत कर देती है। राजनीति के साम-दाम-दण्ड-भेद आदि सभी अंगों में वह निपुण है और उनका प्रयोग करके अपनी इच्छानुसार फल प्राप्त करने में भी पूर्णतः समर्थ है। व्यक्ति और अवसर को पहचानने और उन्हें अपने अनुकूल बनाने की निपुणता उसमें है। उसका तो यह मानना है कि जब तक कोई कार्य, व्यापार चलता रहे, तब तक उसके रहस्य और भेद के बारे में किसी को पता नहीं चलना चाहिए। अपनी इसी नीति के कारण ही वह अकेला नन्द, पर्वतेश्वर, आम्भीक, सिकन्दर, राक्षस और सिल्यूकस आदि महान् शक्तियों से टक्कर लेता है और उन्हें झुकने के लिए मजबूर कर देता है। सभी साधनों से हीन होने पर भी उस दुर्बल ब्राह्मण में साम्राज्य को पलट देने की शक्ति है। साम्राज्य के प्रमुख पात्रों को वह शतरंज के मुहरों की भाँति बदलता रहता है और ये सब के सब मानो उसके आगे नतमस्तक दिखाई देते हैं। यहाँ तक कि जगत् विजेता सिकन्दर भी उसकी बुद्धि गरिमा के आगे झुक जाता है और कहता है–**"धन्य हैं आप, मैं तलवार खींचे हुए भारत में आया, हृदय देकर जाता हूँ, विस्मय विमुग्ध हूँ।"** यही नहीं, मालवों के स्कन्धवार के युद्ध परिषद् में चाणक्य ने जो ओजस्वी भाषण दिया था वह उनकी राजनीतिक गरिमा का स्पष्ट प्रमाण है। पर्वतेश्वर भी उसकी महत्ता को स्वीकार करता है और कहता है–**"आर्य चाणक्य! मैं क्षमता रखते हुए जिस कार्य को न कर सका, वह कार्य निस्सहाय चन्द्रगुप्त ने किया।"**

इस नाटक को पढ़ने के बाद प्रत्येक व्यक्ति इस तथ्य को जान जाता है कि चन्द्रगुप्त तो मात्र एक शस्त्र है जिसे चलाने वाला स्वयं चाणक्य है। चाणक्य ही चन्द्रगुप्त को पर्याप्त शिक्षण-प्रशिक्षण देकर भारत का भावी सम्राट् बनाता है। राक्षस आरम्भ से ही चाणक्य का एक प्रबल प्रतिद्वन्द्वी है। लेकिन वह भी उसकी प्रतिभा को स्वीकार करता हुआ कहता है–"चाणक्य तू धन्य है, मुझे ईर्ष्या होती है।" **"चाणक्य विलक्षण बुद्धि का ब्राह्मण है, उसकी प्रखर प्रतिभा कूट राजनीति के साथ दिन-रात जैसे खिलवाड़ किया करती है।"**

वस्तुतः चाणक्य की सफलता का प्रमुख कारण यह है कि वह प्रत्येक व्यक्ति के सामर्थ्य को भली प्रकार से जानता है। यही नहीं, वह नाटक के सभी पात्रों से अवसरानुकूल काम लेने में भी दक्ष है। नाटक में कदम-कदम पर उसकी दक्षता के उदाहरण देखे जा सकते हैं। वह चन्द्रगुप्त और सिंहरण जैसे वीरों को नट और सपेरा बना सकता है और मालविका को नर्तकी, लेकिन वह प्रत्येक क्षण के महत्त्व को भी समझता है और अनुकूल अवसर को अपने हाथ से नहीं जाने देता। यदि गहराई से देखा जाए तो वह राजनीति का चलता-फिरता महास्तूप है और राजनीति के प्रत्येक अखाड़े के पैंतरे को अच्छी प्रकार समझता है। सिल्यूकस के आक्रमण से पहले ही वह उसकी पराजय को निश्चित कर देता है। उसमें आत्म-विश्वास कूट-कूट कर भरा हुआ है। इसलिए हमें यह कहना पड़ता है कि नाटक में वही होकर रहता है, जिसे चाणक्य निश्चित कर लेता है।

(5) कठोर एवं क्रूर व्यक्ति–अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए चाणक्य कोई भी रास्ता ग्रहण कर सकता है। इसके लिए कभी-कभी वह अत्यधिक कठोर एवं क्रूर दिखाई देता है अथवा हम कह सकते हैं कि वह क्रूर हृदयहीनता का परिचय देता है। इस संदर्भ में कल्याणी का एक प्रसंग दिया जा सकता है। वह पर्वतेश्वर का वध करती है और चन्द्रगुप्त की उपस्थिति में अपनी छाती में भी छुरी भोंक लेती है। इस अवसर पर चाणक्य प्रवेश करके कहता है–**"चन्द्रगुप्त आज तुम निष्कंटक हुए।"** जब चन्द्रगुप्त उसकी क्रूरता पर खेद व्यक्त करता है तो वह उसे स्पष्ट आदेश देता है–**"महत्त्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी में रहता है। चलो अपना काम करो। विवाद करना तुम्हारा काम नहीं।"** मालविका जैसी स्वर्गीय कुसुम को भी वह अपनी हृदयहीनता के कारण बलिदान कर देता है। वह स्वीकार करता है कि वह स्वयं अविश्वास, कूट-चक्र, छलनाओं का कंकाल, कठोरता का केन्द्र है। लेकिन उल्लेखनीय बात यह है कि चाणक्य की यह क्रूरता और कठोरता न तो अपने लिये है न ही किसी को दुःख देने के लिए है। वह राष्ट्र-कल्याण के लिए और अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए ही क्रूरता को अपनाता है। किसी की परवाह किए बिना वह कर्तव्य पथ पर आगे बढ़ता चला जाता है। इसलिए तो उसने प्रतिज्ञा की थी–**"दया किसी से न माँगूगा और अधिकार तथा अवसर मिलने पर किसी पर न करूँगा।"** अपनी इसी प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए वह छोटी-मोटी बातों की परवाह नहीं करता। उसके सामने विराट् और महान् आदर्श है, जिसकी पूर्ति के लिए वह निरन्तर कर्मशील बना रहता है।

(6) महान् उद्देश्य से सम्बद्ध–चाणक्य अपने किसी स्वार्थ की पूर्ति के लिए न तो छल-कपट करता है न ही कठोरता और क्रूरता को अपनाता है। उसका उद्देश्य अत्यधिक व्यापक और असीम है। वह भारतवर्ष को अखण्ड साम्राज्य के रूप में देखना चाहता है। लेकिन तत्कालीन भारत एक ओर तो बाह्य आक्रमणों का सामना कर रहा था और दूसरी ओर आन्तरिक विद्रोह से

ग्रस्त था। चाणक्य भारत की अखण्डता की स्थापना करना चाहता है। इसके लिए वह निरंतर प्रयत्नशील और चिंताग्रस्त दिखाई देता है। चाणक्य में देश-प्रेम की भावना कूट-कूट कर भरी हुई है। प्रस्तुत नाटक के उद्देश्य के बारे में विद्वानों ने यह कहा है कि **"इसमें तत्कालीन इतिहास को राष्ट्रीयता के साँचे में ढालने का सफल प्रयास किया गया है।"** इस उद्देश्य की पूर्ति में चाणक्य का महत्त्वपूर्ण योगदान है। एक स्थल पर चाणक्य कहता भी है, **"तुम मालव हो और ये मागध। यही तुम्हारे मान का अवसान है न? .... मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे, तभी वह मिलेगा। क्या तुम देखते नहीं कि आगामी दिवसों में आर्यावर्त्त के सब स्वतंत्र राष्ट्र एक के अनन्तर दूसरे विदेशी विजेता से पद-दलित होंगे।"** चाणक्य का कथन देश की अखण्ड राष्ट्रीयता का उद्घोष है। वस्तुतः चाणक्य सारा जीवन अखण्ड और निर्विघ्न आर्य समाज की स्थापना के लिए प्रयास करता रहा। चाणक्य इस बात को भली प्रकार से जानता था कि प्रादेशिक प्रेम की अधिकता और संकीर्णता से सम्पूर्ण राष्ट्र की रक्षा नहीं हो सकती। फलस्वरूप चाणक्य ने चन्द्रगुप्त, सिंहरण, कल्याणी, पर्वतेश्वर, अलका, मालविका तथा सिल्यूकस आदि सभी पात्रों का प्रयोग किया। एक बड़े उद्देश्य के लिए उन्होंने छोटे उद्देश्यों की बलि चढ़ा दी और अंत में अखण्ड एवं बाधाविहीन आर्य साम्राज्य की स्थापना का स्वप्न पूरा किया। इससे यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि चाणक्य नाटक के महत् उद्देश्य से सम्बद्ध एक महत्त्वपूर्ण पुरुष पात्र है।

(7) क्षमाशील–पूरे नाटक को पढ़ने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि चाणक्य सर्वथा क्रूर और कठोर व्यक्ति नहीं है। वह भी एक मानव है और उसके हृदय में भी कोमल भाव है, जिनकी वह अवहेलना नहीं कर सकता। यूँ तो चाणक्य ने यह प्रतिज्ञा की थी कि, **"वह दया किसी से न माँगेगा और अधिकार और अवसर मिलने पर किसी पर न करूँगा।"** परन्तु नाटक में वह अनेक बार कल्याणी को क्षमा करता है। यही नहीं, वह सिकन्दर और सिल्यूकस जैसे हत्यारों के लिए भी अपने हृदय में मंगल कामना करता है। उसकी स्वार्थहीनता उसकी कठोरता और क्रूरता को भी कोमलता में परिवर्तित कर देती है। तभी तो वह जिस नंद के कुलनाश की प्रतिज्ञा लेता है, उससे कहता है कि यदि तुम भिक्षा माँगकर जीवन दान प्राप्त करना चाहते हो तो तुम्हें जीवन दान मिल सकता है। राक्षस को क्षमा करके उसे गौरवमय पद प्रदान करना, उनकी क्षमा का ही उदाहरण प्रस्तुत करता है। इतना ही नहीं, सेनापति मौर्य को भी क्षमा करके उसे काषाय ग्रहण करने की सलाह भी दे डाली। परन्तु उसकी क्षमाशीलता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि चाणक्य ने सुवासिनी को भी क्षमा कर दिया। जहाँ तक प्रेम-सम्बन्धों का प्रश्न है, एक संयमी व्यक्ति भी क्रूर बन जाता है। लेकिन चाणक्य ने शीघ्र ही इस सच्चाई को पहचान लिया कि सुवासिनी का प्रेम केवल राक्षस के लिए है, उसके लिए नहीं है। यही कारण है कि उसने अपने प्रेम की बलि देकर सुवासिनी को राक्षस से विवाह करने की आज्ञा दे डाली। यही नहीं, चाणक्य ने अपने हाथों से बनाया हुआ विशाल साम्राज्य और उसकी शासन व्यवस्था अपने प्रतिद्वन्द्वी राक्षस को सौंप दी। सम्भवतः भारतीय इतिहास में इस प्रकार की उदारता और क्षमाशीलता का कोई और उदाहरण देखने को नहीं मिलता। अतः स्पष्ट है कि चाणक्य एक क्षमाशील और त्यागी व्यक्ति था।

(8) अन्तर्द्वन्द्वग्रस्त–प्रस्तुत नाटक में चाणक्य आदि से अन्त तक एक अन्तर्द्वन्द्वग्रस्त पात्र के रूप में चित्रित है। उसके अन्तर्मन में अनुकूल तथा प्रतिकूल सभी प्रकार के भाव विद्यमान हैं। अपने महत् उद्देश्य (अखण्ड आर्य समाज की स्थापना) के लिए वह प्रयत्नशील दिखाई देता है। अतः उसके मन में भी निरन्तर संघर्ष विद्यमान है। द्विजेन्द्रलाल और विशाखदत्त के चाणक्य की तुलना में प्रसाद जी का चाणक्य अधिक मानवीय और संवेदनशील है। प्रसाद जी के चाणक्य के पास केवल मस्तिष्क ही नहीं बल्कि हृदय भी है, जो कि संवेदित होता है। प्रसाद जी के चाणक्य के मस्तिष्क और हृदय में निरन्तर द्वन्द्व चलता रहता है। संवेदन तत्त्वों को हमेशा विचार तत्त्व दबाने में सफल रहते हैं। जिस कारण चाणक्य और अधिक मानवीय हो उठता है। चाणक्य का यह अन्तर्द्वन्द्व नाटक में अनेक स्थलों में उद्घाटित होता है। इसकी हृदयगत संवेदनाओं से दर्शक और पाठक दोनों प्रभावित होते हैं। वह देश की दुर्दशा को देखकर क्षुब्ध रहता है, परन्तु जब वह पाटलिपुत्र पहुँचकर अपनी झोंपड़ी के स्तंभ को देखता है तो हैरान रह जाता है। उसके मानस-पटल पर उसकी बचपन की यादें उभर आती हैं। उसे याद आता है–**"इसके साथ मेरी बाल्यकाल की सहस्रों भाँवरियाँ लिपी हुई हैं। जिन पर मेरी धवल मधुर हँसी का आवरण चढ़ा रहता था। शैशव की स्निग्ध स्मृति विलीन हो जा।"** जब वह मगध के नागरिकों को ऐसे घरों में रहते हुए देखता है जो कि खोह से भी अधिक भयानक हैं तो उसका कोमल हृदय विक्षुब्ध हो उठता है। मगध की दुर्दशा देखकर और कुसुमपुर के फूलों की सेज में ऊँघता देखकर उसके मन में विद्रोह जाग उठता है। मगध के नागरिकों की यह दुर्दशा देखना चाणक्य के लिए असम्भव थी। वह कह उठता है कि वह या तो इस मगध को उलट देगा, या नया बनाएगा या फिर इसका नाश कर देगा। परन्तु होश आने पर वह पुनः विचार कर कहता है–**"मुझे राष्ट्र की भलाई से क्या!"** वह भी अपनी वृत्ति पाकर सन्तुष्ट हो सकता था। परन्तु ऐसा नहीं हो सका। वह राजनीति की मरुभूमि में उतरने के

के प्रति उत्सुकता और किसी पर सर्वस्व लुटा देने की भावना थी। परन्तु जब समझदारी आने पर यौवन चला जाता है। जब त माला गुँथी जाती है, तब तक फूल कुम्हला जाते हैं, जिससे मिलने के सम्भार की इतनी धूमधाम और सजावट होती है, उसके आ तक मनुष्य अपने हृदय को सुंदर और उपयुक्त नहीं बनाए रह सकता।" उसका मन इस बात को लेकर अत्यन्त दुःखी है कि व "अविश्वास, कूट-चक्र और छलनाओं का कंकाल, कठोरताओं का केन्द्र बन कर रह गया है और इस विश्व में कोई सुहृदय नहीं।

(9) ब्राह्मणत्व का सच्चा व्याख्याकार–चाणक्य एक सच्चा ब्राह्मण है, वह राज्य नहीं करना चाहता, लेकिन वह न केव राजाओं को बनाता है, बल्कि उनका नियमन भी करता है। वैसे उसे राज्य करना भी नहीं आता। इसलिए उसका कथन है–"रा का शुभचिन्तन केवल ब्राह्मण ही कर सकते हैं।" भले ही चाणक्य के हाथ बड़े दुर्बल हैं, लेकिन वे इतने शक्तिशाली हैं कि किसी भी साम्राज्य को उलट सकते हैं। अपने ब्राह्मणत्व पर वह किसी भी प्रकार के आक्षेप एवं आलोचना को स्वीकार नहीं क सकता। एक स्थल पर वह कहता भी है–**"इसीलिए ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता है और न किसी के अन्न से पलता है स्वराज्य में विचरता और अमृत होकर जीता है ..... ब्राह्मण सब कुछ सामर्थ्य रखने पर भी, स्वेच्छा से इन माया-स्तूपों को ठुक देता है। प्रकृति के कल्याण के लिए अपने ज्ञान का दान देता है।"** एक अन्य स्थल पर ब्राह्मणत्व के आदर्श की व्याख्या करत हुआ चाणक्य कहता भी है–**"मेघ के समान मुक्त वर्षा-सा जीवन दान, सूर्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करना; सागर क समान कामना, नदियों को पचाते हुए सीमा से बाहर न जाना, यही तो ब्राह्मण का आदर्श है। मेरा साम्राज्य करुणा था, मेरा ध प्रेम या ...... बौद्धिक विनोद कर्म था।"**

सच्चाई तो यह है कि वह अपनी करुणा, धर्मशीलता और बौद्धिक सम्पन्नता आदि उच्च कोटि की विशेषताओं के कार एक श्रेष्ठ ब्राह्मण है। वह स्वयं स्वीकार करता हुआ कहता है कि–**"आज तक जो कुछ किया वह सब भ्रम था। मुख्य वस्तु आ सामने आई। आज मुझे अन्तर्निहित ब्राह्मणत्व की उपलब्धि हो रही है। चैतन्य सागर निस्तरंग है और ज्ञान ज्योति निर्मल है।** नाटक के अंत में चाणक्य निद्वेष, निर्लिप्त, शान्त और निष्काम व्यक्ति के रूप में हमारे सामने उपस्थित होता है। उसके मन न तो किसी के प्रति घृणा की भावना है, न ही आसक्ति की भावना। उसका महत् उद्देश्य अखण्ड आर्य साम्राज्य की स्थापना पू हुआ। यही उसके जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चाणक्य जयशंकर प्रसाद द्वारा निर्मित एक महान् पुरुष पात्र है। वह एक श्रेष्ठ ब्राह्मण, निर्भी स्पष्टवक्ता, दूरदर्शी, कूटनीतिज्ञ, महान् राजनीतिज्ञ, क्षमाशील तथा अन्तर्द्वन्द्वग्रस्त व्यक्ति के रूप में चित्रित हुआ है। डॉ. रामसेवक पाण्डेय ने उनके बारे में उचित ही लिखा है–**"उसकी नीति-लता विपत्ति-ताम में लहलहाती है तथा उसके दृष्टि परिणाम पर केन्द्रि रहती है। चाणक्य ब्राह्मणत्व में विचरण करने वाला तथा एकात्मिक चिन्तन में मन में लीन वह दार्शनिक और कवि नहीं, बल्कि राजनीति की कठोर यथार्थता को विवश कर अपने अनुकूल बनाने वाला व्यावहारिक जगत का प्राणी है।" "केवल मित्र ही उसके बुद्धि वैभव के प्रशंसक नहीं, वरन् शत्रुओं ने भी मुक्त कण्ठ से उसका स्तुतिगान किया है।"** इसी प्रकार से डॉ. हरीन्द्र भी लिख हैं–**"प्रयोग की दृष्टि से प्रसाद जी ने चाणक्य के चरित्र को भी एक सुहृदय मानवत्व प्रदान किया है। सुवासिनी के साथ उसके बाल-स्नेह की अभिव्यंजना एवं अन्तर्द्वन्द्व उसे प्रेम की कोमलता से अलंकृत कर देता है। इससे चाणक्य के चरित्र की भीषणत विलुप्त हो जाती है। अन्त में चाणक्य की वैराग्य वृत्ति उसके विशुद्ध ब्राह्मणत्व को प्रतिष्ठित करती है। देश की पराधीनता जैस विषम स्थिति में अध्यापन छोड़कर एवं शान्त ब्राह्मण-वृत्ति का परित्याग कर राष्ट्रीय यज्ञ की ज्वाला में तपने का पुण्य कर्म करत हुआ चाणक्य परम्परागत भय की मूर्ति के स्थान पर श्रद्धा की प्रतिमा बन जाता है, उसकी चारित्रिक गरिमा अद्वितीय है।"**

◆◆◆

6. सिंहरण का चरित्र-चित्रण

6. चन्द्रगुप्त नाटक के आधार पर सिंहरण का चरित्र-चित्रण कीजिए।

उत्तर–सिंहरण का चरित्र-चित्रण–सिंहरण प्रसाद जी की मानसी सृष्टि है। नाटक में उसका उदय एक तेजस्वी क्षत्रिय क रूप में होता है। उसमें क्षात्र धर्म कूट-कूट कर भरा हुआ है। उसकी भाषा में बड़ी शक्ति है और भुजदण्डों में बहुत बल है। वह

कुचक्री आम्भीक का मुँह तोड़ उत्तर देता है और आक्रमणकारी यवनों से आर्यावर्त्त की रक्षा करने की प्रतिज्ञा करता है। यही नहीं, वह अलका के प्रति अशिष्ट आचरण करने वाले यवन को युद्ध के लिए ललकारता है जिससे यवन आहत होकर भागने के लिए मजबूर हो जाता है। अलका उसके शौर्य पर मुग्ध हो जाती है, लेकिन वह उससे यही कहता है—**"मेरा काम हो गया राजकुमारी। मेरी नौका प्रस्तुत है। मैं जाता हूँ।"** वह उद्‌भाण्ड पर बने सेतु का मानचित्र लेकर नौका पर बैठ जाता है और अलका उसे सतृष्ण नेत्रों से देखती रह जाती है। सिंहरण के चरित्र में जहाँ एक ओर देश-प्रेम है, वहीं दूसरी ओर व्यक्तिगत प्रेम भी है। चन्द्रगुप्त के बाद वही एक महत्त्वपूर्ण पात्र कहा जा सकता है। सिंहरण एक पताका नायक है। वह मालव गण का मुख्य कुमार है। वह वीर, दूरदर्शिता, त्याग, पराक्रम और मैत्री आदि गुणों से सम्पन्न है। उसका चरित्र ऐसा है जो आदि से अंत तक कथानक को गति प्रदान करता है। उसके द्वारा नाटक में संघर्ष का सूत्रपात होता है। वह कर्तव्यपरायणता की साक्षात् मूर्ति है। उसकी प्रकृति संघर्षमयी है, तभी तो वह क्षत्रियत्व और वीरता का प्रतिनिधित्व करता हुआ दिखाई देता है।

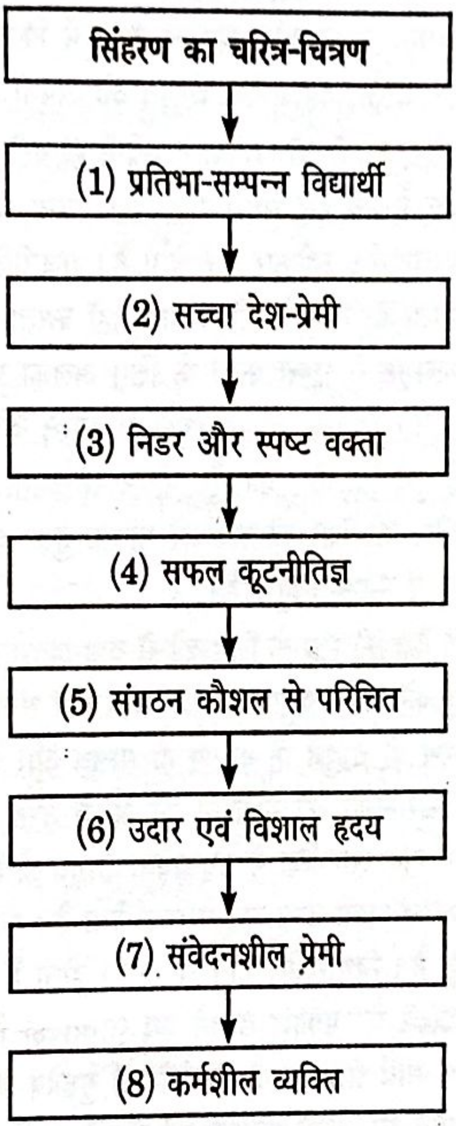

(1) प्रतिभा-सम्पन्न विद्यार्थी—सिंहरण तक्षशिला में स्नातक छात्र है। वह अर्थशास्त्र की शिक्षा प्राप्त कर रहा है। परन्तु अर्थशास्त्र में उसकी अधिक रुचि नहीं है। वह अस्त्र-शस्त्र में अधिक प्रवीण है। मालव देश की रक्षा के लिए वह अस्त्र-शस्त्र को अर्थशास्त्र की अपेक्षा अधिक महत्ता प्रदान करता है। एक कुशल यौद्धा होने के कारण ही उसे तक्षशिला की राजनीति पर नजर रखने की आज्ञा मिली है। वह अपने इस कर्तव्य का पूरी लगन से पालन करता है। अपनी दूरदर्शिता के कारण वह जान जाता है कि—**"आर्यावर्त का भविष्य लिखने के लिए कुचक्र और प्रताड़ना की लेखनी और मसि प्रस्तुत हो रही है। उत्तरापथ के खण्ड राज्य-द्वेष से जर्जर हैं। शीघ्र ही भयानक विस्फोट होगा।"** नाटक में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ वह अपनी दूरदर्शिता को सिद्ध करता है। सिंहरण राजनीतिज्ञ के रूप में अपनी प्रतिभा का कुशल परिचय देता है, जब उसे पहले ही इस बात का पता चलता है कि, **"एक अग्निमय गंधक का स्रोत आर्यावर्त्त के लौह-शस्त्रागार में घुसकर विस्फोट करेगा।"** आम्भीक द्वारा रचाए गए षड्यन्त्र से भी सिंहरण पूरी तरह परिचित है, जिसमें **"यवन आक्रमणकारियों के पुष्कल स्वर्ग से पुलकित होकर, आर्यावर्त्त की सुख रजनी की शांति निद्रा में, उत्तरापथ की अर्गला धीरे से खोल देने का रहस्य छिपा है।"**

(2) **सच्चा देश-प्रेमी**–सिंहरण सच्चा राष्ट्र-प्रेमी है। वह राष्ट्र से अधिक किसी को नहीं समझता। तभी तो वह एक स्थल पर कहता भी है, **"गांधार आर्यावर्त से भिन्न नहीं है।"** वह तक्षशिला का स्नातक है और वह चाणक्य से जो भी शिक्षा ग्रहण करता है, उसे हृदयंगम करता है। वह राष्ट्र-प्रेम से सदा सराबोर रहता है। तभी तो वह मालव देश को ही नहीं, गांधार को भी अपना देश मानता है। वह कहता भी है, **"जन्मभूमि के लिए ही यह जीवन है।"** वह प्रत्येक स्थल पर आज्ञाकारिता और अपनी देश-भक्ति का परिचय देता है।

(3) **निडर और स्पष्ट वक्ता**–सिंहरण को वीरता और निर्भीकता तो जन्म से ही प्राप्त हुई है। लेखक ने एक स्थल पर उसके बारे में लिखा भी है–**"विनम्रता के साथ निर्भीक होना उसका वंशानुगत चरित्र है। और फिर उसे तो तक्षशिला की शिक्षा का भी गर्व है।"** वह स्पष्ट कहने से कभी नहीं डरता। अपनी इसी निर्भीकता का पूरा परिचय वह तब देता है, जब वह आम्भीक के राज्य में रहकर भी उस पर करारे और कटु व्यंग्य करता है। उसकी निर्भीकता और स्पष्टवादिता से प्रभावित होकर एक स्थल पर अलका कहती है–**"इस वन्य निर्झर के समान स्वच्छ और स्वच्छन्द हृदय में कितना बलवान वेग है। वह अवज्ञा भी स्पृहणीय है।"** वह किसी भी बात का अंधानुकरण नहीं करता, वह प्रत्येक स्थिति को अपनी दूरदर्शिता से पहचानने का प्रयत्न करता है।

(4) **सफल कूटनीतिज्ञ**–सिंहरण केवल वीर, त्यागी और सच्चा देश-प्रेमी ही नहीं, अपितु कूटनीतिज्ञ भी है। कूटनीति में उसका पूरा विश्वास है। जब चाणक्य यह आज्ञा देता है कि इस समय युद्ध नहीं करना, बल्कि सिंहरण और अलका को नट-नटी का अभिनय करना है तो वह इस कार्य को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लेता है। राजनीति के सभी प्रपंचों से वह भली-भाँति परिचित है। चाणक्य के समान सिंहरण भी सिद्धि देखता है, साधनों की परवाह नहीं करता। जब पर्वतेश्वर को युद्ध से अलग करने के लिए षड्यन्त्र के रूप में तथा सिंहरण को कारागृह से मुक्त करने के लिए अलका पर्वतेश्वर की वागृदत्ता बन जाती है, तो एक बार वह तिलमिला जाता है। परन्तु उसके सामने सिकंदर के आक्रमण से भारत की रक्षा का प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण है। अतः चाणक्य की कूटनीति को महत्त्व प्रदान करते हुए वह विष का घूँट पीकर रह जाता है। सच्चाई तो यह है कि वह चाणक्य की कूटनीति को कुछ हद तक सगझता है और देश की रक्षा को सर्वोपरि मानता हुआ चाणक्य के प्रत्येक निर्णय को स्वीकार करता है। इससे स्पष्ट होता है कि सिंहरण कूटनीति में काफी निपुण है।

(5) **संगठन कौशल से परिचित**–सिंहरण देश की रक्षा के लिए बड़े-से-बड़ा खतरा उठाने के लिए तैयार है। उसमें संगठन-कौशल का अप्रतिम गुण विद्यमान है। मालव और क्षुद्रकों को चन्द्रगुप्त के सेनापतित्त्व में संगठित करने के लिए वह अद्भुत कुशलता का परिचय देता है। सच्चाई तो यह है कि सिंहरण के चातुर्य के कारण ही मालव और क्षुद्रक चन्द्रगुप्त को अपना सेनापति मानकर युद्ध के लिए तत्पर हो जाते हैं। वह प्रत्येक परिस्थिति की गंभीरता को अच्छी तरह से समझता है। अतः हम कह सकते हैं कि वह हठवादी व्यक्ति नहीं है। नाटक के अंत में जब आम्भीक में सद्भावना जागृत होती है और वह यवनों के सम्मुख अपने कलंक को धोना चाहता है तो सिंहरण उसे अपनी उदात्त भाषा द्वारा सद् परामर्श देता है। आम्भीक के प्रति सिंहरण का कथन इस प्रकार है–**"मित्र आम्भीक मनुष्य साधारण धर्मा पशु है। विचारशील होने से मनुष्य होता है और निःस्वार्थ कार्य करने से वही देवता भी हो सकता है।"** डॉ. हरीन्द्र ने सिंहरण के चरित्र पर प्रकाश डालते हुए उचित ही लिखा है कि–**"निःसन्देह सिंहरण का चरित्र देवोपरम है। वह नाटक के प्रारंभ से अंत तक आर्य साम्राज्य के निर्माणकर्ता गुरुदेव चाणक्य का भक्त है तथा अपने अभिन्न मित्र चन्द्रगुप्त का सच्चा हितैषी भी। अलका के प्रति भी उसके अनुराग की दीपशिखा विषमताओं की घोरतम झंझाओं में भी अविचल जलती रहती है। नाटककार ने व्यंजना द्वारा यही सिद्ध किया है कि जिस देश में सिंहरण जैसे नवयुवक जन्म लेंगे, वह देश सदा स्वतन्त्र एवं सुखी रहेगा।"**

(6) **उदार एवं विशाल हृदय व्यक्ति**–एक ओर सिंहरण सुमेरू से भी कठोर तथा दूसरी ओर समुद्र से भी विशाल हृदयी चरित्र वाला व्यक्ति है। उसकी उदारता वास्तविकता में अभिनन्दनीय है। वह अपने शत्रु आम्भीक को भी क्षमा करके अपने उदार हृदय का परिचय देता है। वह चन्द्रगुप्त के प्रति अत्यधिक सम्मान व्यक्त करता हुआ कहता है–**"मालव युद्ध में सेनापति चन्द्रगुप्त की सभी आज्ञाओं का पालन होगा।"** इससे उसकी हृदय-विशालता और उदारता साफ झलकती नज़र आती है। एक अन्य स्थल पर जब युद्ध-क्षेत्र में सिकंदर बुरी तरह घायल हो जाता है तभी सभी सैनिक बदला लेने के लिए आतुर होकर चिल्ला उठते हैं, तब वह सैनिकों को शान्त करता हुआ कहता है–**"ठहरो मालव वीरो! ठहरो! यह भी एक प्रतिशोध है। यह भारत के ऊपर एक ऋण था। पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का प्रत्युत्तर है।"** सिंहरण की क्षमाशीलता और उदारता मानो उसके व्यक्तित्त्व को अलंकारों की भाँति और अधिक शोभायमान बना देते हैं।

(7) संवेदनशील प्रमा–ंसहरण का हृदय जहाँ एक ओर देश-प्रेम से भरा हुआ है, वहीं दूसरी ओर वह मानवीय प्रणय से भी भरा हुआ है। उसके हृदय में अलका के प्रति अपार प्रेम की भावना है। अलका की सहृदयता उसे आकर्षित और प्रभावित किए बिना नहीं रहती। उसका प्रेमी हृदय बिल्कुल निश्छल और स्वच्छ है। वह मात्र अलका के कहने पर ही गांधार देश छोड़ कर चला जाता है। यही नहीं, जव यवन अलका के प्रति अशिष्ट आचरण करता है तो वह उसे युद्ध के लिए ललकारता है। युद्ध में यवन को आहत करके उसे युद्ध-क्षेत्र से भागने पर विवश कर देता है। अलका भी सिंहरण के शौर्य पर मुग्ध है। वह अलका के प्रति मात्र आकर्षित ही नहीं होता, बल्कि उसका प्रेम सच्चे प्रेमी की भाँति आदि से अंत तक दृढ़ बना रहता है। वह प्रेम में किसी प्रकार की राजनीति को सहन नहीं कर करता। उसका अलका के प्रति इतना सच्चा प्रेम है कि वह अन्य किसी का नाम भी अलका के साथ सहन नहीं कर सकता। एक बार जब अलका हँसी में पर्वतेश्वर के साथ विवाह करने की बात करती है तो उसका हृदय दुःखी हो जाता है। वह अलका से युद्ध-क्षेत्र में प्राण देने की आज्ञा माँगता है। वास्तविकता तो यही है कि "सुन्दर निश्छल हृदय से हँसी करना भी अन्याय है।" वस्तुतः सिंहरण, अलका दोनों की प्रकृति में साम्य है। दोनों के लक्ष्य भी अभिन्न हैं। इसीलिए दोनों में अनन्य प्रेम भी है। यही कारण है कि चाणक्य ने अलका और सिंहरण को विवाह के बंधन में बाँध दिया।

(8) कर्मशील व्यक्ति–सिंहरण एक कर्मठ और कर्मशील व्यक्ति के रूप में पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता है। उसके रक्त में बलिदान की भावना आप्लावित है। वह देश की दुर्दशा को देखकर अत्यधिक व्यथित है। वह देश को विदेशी यवनों के आक्रमणों से मुक्त कराना चाहता है। उसे गुरुकुल में रहते हुए ही यह सूचना मिल जाती है कि यवन भारत पर आक्रमण करने का षड्यन्त्र कर रहे हैं। उसे यह भी पता चल जाता है कि राजकुमार आम्भीक यवनों के साथ संधि कर चुका है। इसलिए वह उससे घृणा करता है, लेकिन आम्भीक और सिंहरण में काफी बड़ा अन्तर है। आम्भीक यदि राजकुमार है तो सिंहरण एक स्नातक है। वह राजकुमार के प्रश्नों का उत्तर देना अपने व्यक्तित्त्व के अनुकूल नहीं मानता, क्योंकि वह आम्भीक को एक देश-द्रोही मानता है। परन्तु सिंहरण स्वतंत्र होने के साथ-साथ अपने देश के मान-सम्मान तथा उसके स्वतंत्र अस्तित्त्व के लिए चिंतित है। उसके मन में यवनों के प्रति घृणा की भावना है। इसका प्रमुख कारण यही है कि यवन छल-छिद्र द्वारा भारत को अपने अधीन करना चाहते हैं। वह अपने कर्तव्य और कर्म-क्षेत्र के प्रति सतत् जागरूक है। निम्नलिखित वार्तालाप से यह स्पष्ट हो जाता है कि सिंहरण आम्भीक से इसलिए घृणा करता है क्योंकि वह शत्रुओं से सांठ-गांठ करने जा रहा है–

"**आम्भीक** – कैसा विस्फोट है? युवक तुम कौन हो?
सिंहरण – एक मालव!
आम्भीक – नहीं, विशेष परिचय की आवश्यकता है।
सिंहरण – तक्षशिला-गुरुकुल का एक छात्र।
आम्भीक – देखता हूँ कि तुम दुर्विनीत भी हो।"

◆◆◆

7. अलका का चरित्र-चित्रण

7. 'चन्द्रगुप्त' नाटक के आधार पर अलका का चरित्र-चित्रण कीजिए।

उत्तर–अलका का चरित्र-चित्रण–'चन्द्रगुप्त' नाटक के नारी पात्रों में अलका का चरित्र सर्वाधिक प्रभावशाली दिखाई देता है। वह नारी के रूप में राष्ट्रीय भावना का प्रतीक है। अलका के अनुपम सौन्दर्य में नाटककार ने दुर्गा की पापनाशिनी भव्य मूर्ति को स्थापित किया है। उसकी वाणी में ओज है और उसके आचरण में क्रान्ति है। उसके हृदय में आर्यावर्त्त की भक्ति का अजस्र स्रोत प्रवाहित होता रहता है। उसकी राष्ट्रीय चेतना किसी भी पुरुष पात्र से कम नहीं है। यवन आक्रमकों से देश की रक्षा करने के लिए वह अपने भाई आम्भीक और पिता गांधार नरेश को भी ललकारने का साहस रखती है। देश-प्रेम के गीत गाती हुई वह भयंकर जंगलों में भ्रमण करती है और युद्ध की योजनाओं में सक्रिय भाग लेती है। राष्ट्रीय आवश्यकताओं के समक्ष वह व्यक्तिगत चरित्र को तुच्छ समझती है। डॉ. हरीन्द्र लिखते भी हैं–"**उसके (अलका के) चरित्र की प्रयोगशीलता इस रूप में है कि वह राष्ट्रीय चरित्र की तुलना में व्यक्तिगत चरित्र को तुच्छ समझती है। अपने प्रेमी सिंहरण को राष्ट्रीय संग्राम के लिए मुक्त करने के लिए वह पर्वतेश्वर की संगिनी बन जाती है। किन्तु अपने व्यक्तिगत चरित्र की भी रक्षा करती हुई अपने महान् लक्ष्य में सफल होती है।**

उसके चरित्र की दीप्ति से प्रभावित होकर आम्भीक जैसा पतित व्यक्ति भी सही मार्ग पर आ जाता है।" नाटक में जब आम्भीक अलका को राज्य सिंहासन के लिए योग्य सिद्ध करता है तो वह प्रत्युत्तर में कहती है—**"भाई! अब भी तुम्हारा भ्रम नहीं गया। राज्य किसी का नहीं है, सुशासन का है। जन्मभूमि के भक्तों में आज जागरण है। देखते नहीं, प्राच्य में सूर्योदय हुआ है। स्वयं सम्राट् चन्द्रगुप्त तक महान् आर्य साम्राज्य के सेवक हैं। स्वतंत्रता के युद्ध में सैनिक और सेनापति का भेद नहीं। जिसकी खड्ग-प्रभा में विजय का आयोजन चमकेगा, वही वरेण्य है, उसकी पूजा होगी। भाई तक्षशिला मेरी नहीं, तुम्हारी भी नहीं, तक्षशिला आर्यावर्त्त का वह भू-भाग है, आर्यावर्त्त की ही होकर रहे, इसके लिए मर मिटो।"**

वस्तुतः अलका 'चन्द्रगुप्त' नाटक के नारी पात्रों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नारी पात्र है। उसका व्यक्तित्त्व प्रभावशाली एवं आकर्षक है। उसके चरित्र की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

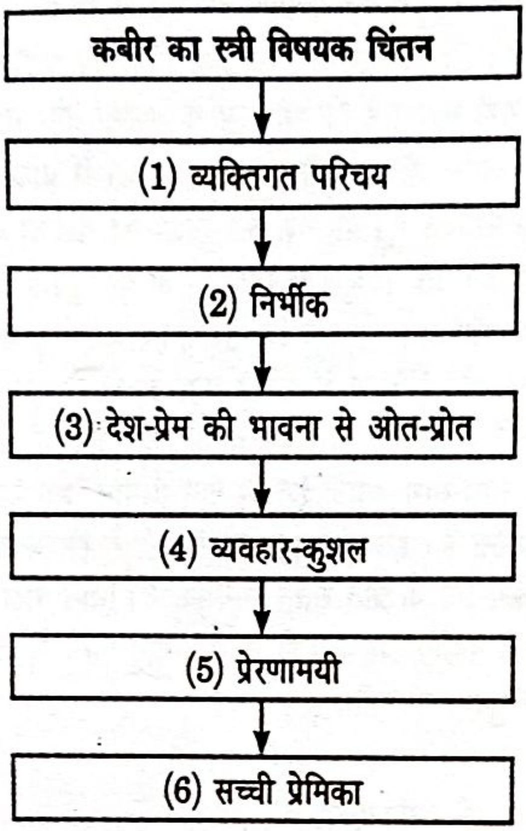

(1) व्यक्तिगत परिचय—अलका गांधार नरेश की पुत्री तथा देश-द्रोही आम्भीक की सगी बहन है। जहाँ आम्भीक यवन सिकंदर के साथ मिलकर पर्वतेश्वर को नीचा दिखाना चाहता है, वहाँ अलका भारतीय आर्यावर्त्त पर विदेशियों के आक्रमण को निष्कंटक बनाना चाहती है। इसलिए वह अपने पिता गांधार नरेश का भी विरोध करती है और आम्भीक का भी। प्रसाद के नाटकों के नारी पात्रों में अलका का नाम परंपरागत सब पात्रों में आता है। अलका के माध्यम से प्रसाद जी ने भविष्य की ओर संकेत किया है। अलका के कथन स्वतन्त्र भारत के नागरिकों के लिए भी माननीय हैं। उसका कमनीय रूप है, दिव्य आचरण है तथा उसके मन में उदात्त भाव हैं। अलका आधुनिक स्वतंत्रता संग्राम की वीर स्वयंसेविका का आराध्य रूप है। नाटककार स्वयं उस पर बलिहारी जाता है।

(2) निर्भीक—गन्धार राजकुमारी अलका में निर्भीकता कूट-कूट कर भरी हुई है। उसकी निर्भीकता का परिचय हमें नाटक में अनेक स्थलों पर मिलता है। उसके मन में सबके प्रति उदात्त भाव हैं। उसे जो कुछ कहना होता है, वह स्पष्ट कह देती है। एक स्थल पर वह अपने भाई आम्भीक के सम्मुख सिंहरण की प्रशंसा करती हुई कहती है—**"भाई! इस वन्य-निर्झर के समान स्वच्छ हृदय में कितना बलवान वेग है। यह अवज्ञा भी स्पृहणीय है।"** वह अपने उद्‌गार प्रकट करती हुई किसी से नहीं डरती। उसे जो कुछ कहना होता है, साफ एवं स्पष्ट कह देती है। अपने भाई आम्भीक की कायरता पर व्यंग्य करती हुई एक स्थल पर वह कहती है—**"उस प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये जो लड़कर मर नहीं सका, वह कायर नहीं तो और क्या है?"** देश के प्रति उसके हृदय में अपार स्नेह है। देश-प्रेम के समक्ष वह किसी को भी अधिक महत्ता नहीं देती। इसलिए अपने पिता से कहती है—**"अगर मैं कारागार की चारदीवारी में बन्द न की गई तो गान्धार देश में विद्रोह की ज्वाला भड़का दूँगी।"** सिल्यूकस से मिलने पर भी वह अपनी निर्भीकता का परिचय देती हुई कहती है—**"यह मेरा देश है, मेरे पहाड़ हैं ..... मैं और कहाँ जाऊँगी यवन।"** अलका निर्भीकता की प्रतिमूर्ति है। वह पर्वतेश्वर से कहती है—**"महाराज! यदि भूपालों का-सा व्यवहार न माँगकर आप सिकंदर से द्वन्द्व युद्ध माँगते, तो अलका**

को विचार करने का अवसर मिलता।" इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से स्वतः पता चल जाता है कि अलका स्पष्ट बात कहने में किसी से नहीं डरती। वह सत्य कहने से नहीं हिचकती। फिर चाहे उसके लिए उसे कोई भी दण्ड क्यों न सहन करना पड़े। इस प्रकार नाटक में अनेक प्रसंगों में हमें उसकी स्पृहणीय निर्भीकता का परिचय मिलता है जो वास्तव में अभिनन्दनीय है।

(3) देश-प्रेम की भावना से ओत-प्रोत–जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि अलका अपने देश के लिए मर-मिटने को तैयार रहती है। उसका हृदय देश-प्रेम की भावना से ओत-प्रोत है। देशानुराग उसके चरित्र की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता है। उसका प्रत्येक कार्य देश के लिए होता है। वह देश की सम्भाव्य दुर्दशा के बारे में सोचकर अत्यन्त दुःखी और व्याकुल हो उठती है। इसलिए देश की रक्षा के लिए वह सिंहरण से कहती भी है–**"मैं आम्भीक को शक्ति भर पतन से रोकूँगी, परन्तु उसके न मानने पर तुम्हारी आवश्यकता होगी।"** एक स्थल पर चाणक्य भी अलका की देश-प्रेम की भावना की प्रशंसा करते हुए कहता है–**"मेरी लक्ष्मी अलका ने आर्य-गौरव के लिए क्या-क्या कष्ट न उठाये?"** वास्तव में यवनों के हाथ स्वाधीनता बेचकर उसके दान से जीने की शक्ति अलका में नहीं है। देशोद्धार का बीड़ा उठाने के बाद वह कहीं एक कदम भी पीछे हटती दिखाई नहीं देती। यही नहीं, देश-प्रेम की खातिर वह अपने भाई आम्भीक का विरोध करने के लिए उसके प्रति विद्रोह करने को तैयार हो जाती है और इस कार्य के लिए वह सिंहरण से मदद माँगती हुई कहती भी है–**"तुम्हारे मनोबल में स्वतंत्रता है और तुम्हारी दृढ़ भुजाओं में आर्यावर्त्त के रक्षण की शक्ति है।"** देश-प्रेम के कारण वह राजमहल के ऐशो-आराम को ठोकर मार देती है और कंटाकीर्ण पथ का अनुसरण करती है। देशानुराग के कारण वह बन्दनी बनती है, नटी का अभिनय करती है और शत्रु के समक्ष वीरतापूर्वक डटकर युद्ध करती है। यहाँ तक कि वह सिंहरण की वीरोचित देश-भावना से प्रेरित होकर उसके प्रति आकृष्ट होती है।

(4) व्यवहार-कुशल–प्रस्तुत नाटक के अन्य नारी पात्रों के समान अलका किसी का अंधानुकरण नहीं करती। वह हमेशा व्यवहार-कुशलता का परिचय देती है तथा परिस्थिति और समयानुसार फैसला करती है। जब भी उसके सम्मुख कोई संकट अथवा मुसीबत आती है, तो वह अपनी व्यवहार-कुशलता का परिचय देती हुई सही निर्णय लेती है। पहले अंक के दसवें दृश्य में जब उसकी भेंट सिल्यूकस से होती है, तो वह मन में सोचती है कि हो सकता है कि सिल्यूकस उसके साथ अनुचित व्यवहार करे। इसलिए वह ऐसी परिस्थिति के लिए स्वयं को तैयार कर लेती है। निम्नलिखित उदाहरण देखिए–

"सिल्यूकस – यहाँ तो तुम अकेली हो सुन्दरी!

अलका – सो तो ठीक है (दूसरी ओर देखकर सहसा) परंतु देखो, वह सिंह आ रहा है। (सिल्यूकस उधर देखता है, अलका दूसरी ओर निकल जाती है।)

सिल्यूकस – निकल गई? (दूसरी ओर जाता है और उसको भुलावा देकर चली जाती है तथा अपने प्रति व्युत्पन्नमतित्त्व का परिचय देती है।)"

इसी प्रकार वह पर्वतेश्वर को मूर्ख बनाकर सिंहरण और स्वयं को उससे मुक्त कराती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अलका में परिस्थिति और समय के अनुसार तत्काल निर्णय लेने की शक्ति है। वह समस्याओं से जूझती ही नहीं, बल्कि उन्हें सरल भी बनाती है।

(5) प्रेरणामयी–अलका केवल स्वयं ही वीर नारी नहीं, बल्कि वह देश के अन्य लोगों को भी वीरता का पाठ पढ़ाती है। वह देश-प्रेम की सच्ची पुजारिन है। उसकी प्रेरणा-शक्ति के कारण ही आम्भीक जैसा देश-द्रोही व्यक्ति कुमार्ग को छोड़कर सन्मार्ग को ग्रहण करता है। जब सिल्यूकस भारत पर आक्रमण करता है तो वह सारे गांधार में देश प्रेम की भावना उत्पन्न करती है और वहाँ के निवासियों को शत्रु का सामना करने की प्रेरणा देती है। वह कहती है–**"तक्षशिला के वीर नागरिको! एक बार अभी-अभी सम्राट् चन्द्रगुप्त ने इसका उद्धार किया था, आर्यावर्त्त–प्यारा देश ग्रीकों की विजय-लालसा से पुनः पद-दलित होने जा रहा है ...... तुम्हारा राजा कायर है।"** यही नहीं, वह देशभक्ति पूर्ण युद्धगान को गाती हुई कहती है–

"हिमाद्रि तुंग शृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतंत्र पुकारती
अमर्त्य वीरपुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है– बढ़े चलो, बढ़े चलो।"

आलोचनात्मक प्रश्न

1. आधे-अधूरे : आधुनिकता बोध

1. **आधुनिकता बोध का अर्थ स्पष्ट करते हुए स्पष्ट कीजिए कि मोहन राकेश विरचित 'आधे-अधूरे' नाटक आधुनिकता बोध का नाटक है। (Most. Imp.)**

अथवा

'आधे-अधूरे' नाटक के 'आधुनिक बोध' का विवेचन कीजिए।

अथवा

'आधे-अधूरे' नाटक आधुनिक संवेदना से जुड़ा है। स्पष्ट कीजिए।

उत्तर–'आधुनिकता बोध' और 'आधे-अधूरे' नाटक–'आधे-अधूरे' नाटक के आधुनिकता बोध का विवेचन करने से पहले हमें सर्वप्रथम आधुनिकता का सही अर्थ जान लेना चाहिए। यह शब्द 'आधुनिक' और 'ता' प्रत्यय जुड़ने से बना है। इसके तीन अर्थ निकल सकते हैं। समय सापेक्ष नये का वाचक तथा एक दृष्टिकोण, वस्तुतः आधुनिकता का सम्बन्ध न तो किसी उम्र से है और न ही समय से। प्रत्येक युग में जब कोई विशेष दृष्टिकोण व्यक्त किया जाता है अथवा समयानुसार कोई बात कही जाती है तो वह नये का वाचक बन जाती है। अतः साहित्य में आधुनिकता का सम्बन्ध यथार्थ वर्णन अथवा जीवन्त दृष्टिकोण से जोड़ा जा सकता है। इसे हम युग बोध भी कह सकते हैं। आधे-अधूरे नाटक में आधुनिक युग-बोध को आधार बनाया गया है। मोहन राकेश अपने युग के साहित्यकार थे, वे युग की समस्याओं को बड़ी गहराई से पहचानते थे। इसलिए स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी के सामाजिक नाटकों में आधे-अधूरे सर्वाधिक बहुचर्चित नाटक रहा है। कथ्य और शिल्प के क्षेत्र में नई संभावनाओं का संकेत करने वाला यह नाटक राकेश के सम्यक् जीवन के यथार्थ से प्रत्यक्ष टकराव का प्रथम सोपान है। यद्यपि इससे पहले वे आषाढ़ का एक दिन, लहरों के राजहंस दो ऐतिहासिक नाटकों की रचना कर चुके थे। इन दोनों नाटकों में नाटककार ने प्रतीकात्मकता के माध्यम से सम्यक् यथार्थ का साक्षात्कार किया था। लेकिन इन दोनों नाटकों में यथार्थ पूर्ण तथा आरोपित था, लेकिन आधे-अधूरे में जिस आधुनिक युगबोध का वर्णन किया गया है, वह महानगरीय जीवन के यथार्थ का उद्‌घाटन करता है। आधे-अधूरे के युगबोध के बारे में डॉ. दिनेश चन्द्र वर्मा लिखते हैं–**"जबकि आधे-अधूरे सपरिचय, टूटे हुए सम्बन्धों की पीड़ा में टूटे परिवार के सदस्यों और विसंगत परिस्थितियों में जीते उनकी विवश छटपटाहट को अधिक स्पष्टता और मार्मिकता से अभिव्यक्त करता है। अपने आलेख में वह नाटक मूल रूप से स्त्री-पुरुष सम्बन्धों पर और सम्बन्ध के पारस्परिक तनाव पर एक दृष्टि है, पर आनुषंगिक रूप से यह नाटक एक-साथ कई अर्थ उजागर करता है। महेन्द्रनाथ और सावित्री एक-दूसरे से ऊकताकर एक-दूसरे को छोड़ देने का निर्णय न जाने कितनी बार लेते हैं और कई बार उनके लिए उपयुक्त समय भी आता है, जब वे सम्बन्ध विच्छेद कर लें, फिर भी न जाने वह कौन-सी अनजानी कोशिश है जो उन्हें एक बार फिर से आमने-सामने ला खड़ा करती है और विवश भाव से वे फिर से एक नयी शुरुआत स्वीकार कर लेते हैं।"**

आज भारतीय समाज विशेषकर नगरीय समाज सांस्कृतिक संक्रमण के काल से गुजर रहा है। महानगरों के युवक आध्यात्मिक मूल्यों को त्याग रहे हैं। उनके मन में न तो सन्तोष है, न धैर्य, न सौहार्द। माँ-बाप जिस किसी बेटे को पढ़ा-लिखाकर बड़ा करते हैं, वही महानगरों में पहुँचकर कोई अच्छी से अच्छी नौकरी प्राप्त कर लेता है और अपने माँ-बाप की ओर से मुँह मोड़ लेता है। भौतिकता का साम्राज्य सर्वत्र फैलता जा रहा है। कोई भी इसके मोह-जाल से निकल नहीं पाता। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् नारी शिक्षा पर विशेष बल दिया गया। फलस्वरूप वह घर की चारदीवारी से बाहर निकलकर काम-काजी अथवा नौकरी पेशा नारी कहलाने लगी, फलस्वरूप उसका सम्पर्क अनेक पुरुषों से होने लगा। इसका एक दुष्परिणाम यह हुआ है कि युगों से दबी हुई विकृत काम-कुण्ठा नारी सब मर्यादाओं को तोड़कर बाहर आने लगी। विशेषकर निम्न मध्य वित्तीय परिवारों में व्याप्त इस भौतिकवादी प्रवृत्ति ने पति-पत्नी, माँ-बेटी आदि के सम्बन्धों को खोखला कर दिया। दिल्ली जैसे महानगरों में यदि कोई नारी अथवा युवती सुबह घर से निकलकर शाम को घर लौटकर आती है तो घरवालों को इस बात का ज्ञान नहीं है कि वह क्या कुछ करके लौटती है। यह सब उसकी अपनी ईमानदारी पर निर्भर करता है। इसलिए मोहन राकेश ने निम्न मध्य वित्तीय वर्ग के परिवार के टूटने की

समस्या को लेकर इस नाटक की रचना की है। आधे-अधूरे नाटक के बारे में ई. अलका जी का यह सही कथन है–**"यह नाटक मध्य वर्गीय जीवन की शुष्क विनाशकारी रिक्तता का प्रखर दस्तावेज है और विकृत मूल्यों, भ्रान्तियों एवं दोगली नैतिकता का निर्मम निरावरण है, जो उसकी रिक्तता के कारण है।"** प्रस्तुत नाटक में पारिवारिक विघटन, आर्थिक अर्थाभाव, खोखले पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धों, प्रेम-विवाह, प्रेम विषय की मुक्ति आदि पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। यह सभी प्रश्न आधुनिकता बोध से जुड़े हुए हैं। इनका विवेचन निम्नलिखित बिंदुओं के आधार पर किया जा सकता है–

आधुनिकता बोध और आधे-अधूरे नाटक

↓

(1) पारिवारिक विघटन की समस्या

↓

(2) भौतिकवादी दृष्टिकोण की प्रधानता

↓

(3) खोखले पारिवारिक तथा सामाजिक सम्बन्धों का उद्घाटन

↓

(4) स्वच्छन्द काम सम्बन्धी भावना

↓

(5) प्रेम-विवाह

↓

(6) कृत्रिम जीवन-शैली

(1) पारिवारिक विघटन की समस्या–प्रस्तुत नाटक आधे-अधूरे में निम्न मध्यवर्गीय परिवार की सामाजिक, आर्थिक तथा मानसिक स्थितियों का यथार्थ वर्णन किया गया है। सांस्कृतिक संक्रमण के कारण भले ही माता-पिता और बच्चे एक ही छत के नीचे रहते हों, लेकिन उनमें पारस्परिक स्नेह का सर्वथा अभाव देखा जा सकता है। आर्थिक अभावों के कारण पारिवारिक सदस्यों में मतभेद बढ़ने लगता है। यदि घर का मुखिया कहलाने वाला व्यक्ति धन कमाकर घर नहीं लाता तो कोई भी उसका आदर-मान नहीं करता। घर के सदस्यों की छोटी-मोटी आवश्यकताएँ भी पूरी नहीं हो पातीं और वे एक-दूसरे का अनादर करना आरम्भ कर देते हैं। आधे-अधूरे नाटक में नाटककार ने एक ऐसे ही मध्यवर्गीय परिवार का वर्णन किया है। धर का मुखिया कहलाने वाला महेन्द्र एक असफल व्यापारी है। वह बेकार, निकम्मा और घर-घुसरा बना हुआ है। घर को चलाने के लिए उसकी पत्नी सावित्री घर से बाहर निकलकर नौकरी करती है और पर-पुरुषों के सम्पर्क में आती है। सावित्री, उसका बेटा अशोक तथा बेटियाँ बिन्नी और किन्नी सभी महेन्द्रनाथ की इसलिए उपेक्षा करते हैं, क्योंकि वह कुछ कमाता नहीं है। पत्नी तो बात-बात पर उसका अपमान करती है। पत्नी तथा बच्चों की उपेक्षा के कारण महेन्द्रनाथ अनेक बार घर छोड़ने का विचार बनाता है, लेकिन साहस नहीं जुटा पाता। एक बार तो क्रोधित होकर वह कह भी देता है–**"हाँ पूछकर ही जानना है आज। कितने साल हो चुके हैं मुझे जिन्दगी का भार ढोहते? उनमें से कितने साल बीते हैं मेरे परिवार की देख-रेख करते और उस सबके के बाद आज मैं पहुँचा कहाँ हूँ? यहाँ कि जिसे देखो वही मुझसे उल्टे ढंग से बात करता है? जिसे देखो वह मुझसे बदतमीजी से पेश आता है।"** स्वयं नाटककार स्वीकार करता है–**"मध्य वर्गीय जीवन में आने वाली शुष्क और विनाशकारी रिक्तता को उघाड़ने वाला यह नाटक मनुष्य के खोखलेपन, सम्बन्धों के सतहीपन तथा जीवनादर्शों व आस्थाओं से लड़खड़ाते मानदण्डों को सजीव रूप से प्रस्तुत करता है। ....स्त्री-पुरुष के लगाव व तनाव तथा पारिवारिक विघटन की यह गाथा अपने में अधूरे मनुष्य की काल्पनिक पूर्णता की योग की महत्त्वाकांक्षा की यातना को उजागर करती है।"** इस सम्बन्ध में डॉ. प्रतिभा अग्रवाल ने भी उचित ही लिखा है–**"महानगरीय विशेषकर दिल्ली का जीवन जीने वाले मध्यवर्गीय आधुनिक परिवार की परिस्थितियों, सम्बन्धों, आपसी मन-मुटाव व घुटन, त्रासदी आदि का ऐसा चित्रण संभवत किसी भारतीय नाटक में नहीं है।"**

(2) भौतिकवादी दृष्टिकोण की प्रधानता–पहले बताया जा चुका है कि आज भारतीय समाज भौतिकवादी युग से गुजर रहा है। पहले जमाने में हमारी आवश्यकताएँ बहुत कम होती थीं। एक व्यक्ति कमाता था और दस खाते थे। आज दस के दस कमाते हैं और फिर भी सबका पेट नहीं भरता। प्रत्येक व्यक्ति अधिकाधिक धन कमाने का प्रयास करता है। आज हम अपने घरों में बहुत-सी ऐसी वस्तुओं का संग्रह करने में लगे हुए हैं जिनकी हमें आवश्यकता नहीं है। अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि भौतिकतावाद के कारण हमने अपने चारों ओर अर्थाभाव की बनावटी खाई खोद रखी है। आधे-अधूरे नाटक में निम्न मध्यवर्गीय परिवार के अर्थाभाव की ओर संकेत किया गया है। एक समय था जब महेन्द्रनाथ का अच्छा-खासा व्यापार चलता था। परिवार के सभी सदस्यों को सुख-सुविधाएँ प्राप्त थीं, लेकिन अब वह एक असफल व्यापारी है और व्यापार में घाटा खा चुकने के बाद बेकार, निकम्मा, निठल्ला और घर-घुसरा बन गया है। उसकी पत्नी सावित्री नौकरी के लिए घर से बाहर निकलती है, वही अब घर का खर्चा चलाती है। घर का कुछ-न-कुछ अच्छा बन जाए यह सोचकर वह बड़े-बड़े लोगों से सम्पर्क बनाती है। वह चाहती है कि बड़े लोगों के सम्पर्क से उसके बेटे अशोक को भी कोई नौकरी मिल जाए, ताकि घर में अर्थ का अभाव न रहे और पहले जैसी सुख-सुविधाएँ सभी को प्राप्त होती रहें। इसी प्रयास में सावित्री विपथगामिनी बन जाती है। लेकिन यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य बात है कि महेन्द्र और सावित्री का परिवार भूख से मर नहीं रहा। सावित्री के वेतन से घर अच्छी तरह से चलाया जा सकता है, लेकिन सावित्री की भौतिकवादी प्रवृत्ति ही उसे कुमार्ग की ओर ले जाती है। अपने बेटे अशोक को नौकरी दिलाने के लिए वह कामुक और भ्रष्ट सिंघानिया जैसे व्यक्ति को घर पर बुलाती है। इस सन्दर्भ में **डॉ. नेहा शर्मा** ने उचित ही लिखा है–**"आदमी की प्राप्ति की महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित होकर जब किसी को अपने यहाँ बुलाती है तो उनसे वह एक ओर सैक्स की पूर्ति करती है तो दूसरी ओर अतिरिक्त अनुग्रह जुटाने की व्यावहारिक बुद्धि भी।"** अतः वह अपने घर पर जिस किसी को बुलाती है, तब वह आदमी को नहीं बुलाती बल्कि उसकी तनख्वाह को, नाम को अथवा रुतबे को बुलाती है। इस सन्दर्भ में **डॉ. दिनेश चन्द्र वर्मा** उचित ही लिखते हैं–**"अर्थ के दूसरे धरातल से यह नाटक एक पारिवारिक जीवन के विघटन की समस्त सूक्ष्मताओं के साथ प्रस्तुत की गई कथा है। पारिवारिक सम्बन्धों का अर्थ दिखावा हो गया है। सभी अजनबी से पर एक-दूसरे को जानते हुए जीने के लिए अभिशप्त प्रतीत होते हैं।"**

(3) खोखले पारिवारिक तथा सामाजिक सम्बन्धों का उद्‌घाटन–भौतिकवादी दृष्टिकोण के कारण आज हमारे पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्ध खोखले हो चुके हैं। सर्वत्र स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति, उन्मुक्तता और आर्थिक समस्याओं ने हमारे जीवन को अन्दर से खोखला कर दिया है। परिवार के सदस्यों में अब वह आत्मीयता, परस्पर स्नेह, सद्भाव लुप्त होता जा रहा है, जो परिवार के सदस्यों को एक-दूसरे के साथ बाँधकर रख सकते हैं। आज व्यक्ति अपने स्वार्थों एवं देखकर ही दूसरे के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। प्रस्तुत नाटक आधे-अधूरे में महेन्द्र तथा सावित्री के माध्यम से खोखले पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धों को दर्शाया गया है। जब तक महेन्द्र एक सफल व्यापारी था, तब तक सावित्री उसका आदर-सम्मान करती थी, लेकिन अब उसे व्यापार में घाटा हो चुका है और वह बेकार तथा घर-घुसरा बनकर रह गया है। सावित्री किसी पूरे आदमी की तलाश में यहाँ-वहाँ भटकती है और अनेक पर-पुरुषों से सम्बन्ध स्थापित करती है। अपनी भौतिकवादी प्रवृत्ति के कारण ही वह सिंघानिया जैसे काम-लोलुप व्यक्ति को अपने घर पर आमन्त्रित करती है। कहने को तो महेन्द्र और सावित्री पति-पत्नी हैं, लेकिन उनके बीच अब घुटन और तनाव है। हर रोज गाली-गलौच और मार-पीट तक होती रहती है। महेन्द्र और सावित्री के खोखले दाम्पत्य जीवन पर प्रकाश डालती हुई उनकी बड़ी लड़की बिन्नी कहती है–**"मैं यहाँ थी तो मुझे कई बार लगता था कि मैं एक घर में नहीं, चिड़ियाघर के पिंजरे में रहती हूँ जहाँ... आप शायद सोच भी नहीं सकते कि क्या-क्या होता रहा है यहाँ। डैडी का चीखते हुए ममा के कपड़े तार-तार कर देना ...उनके मुँह पर पट्टी बाँधकर उन्हें बन्द कमरे में पीटना... खींचते हुए गुसलखाने में कमोड़ पर ले जाकर.... मैं तो बयान भी नहीं कर सकती कि कितने-कितने भयानक दृश्य देखे हैं इस घर में मैंने, दो आदमी जो रात-दिन एक-दूसरे की जान नोचने में लगे रहते हैं।"**

सामाजिक सम्बन्धों के खोखलेपन का उद्‌घाटन करने के लिए इस नाटक में मनोज पात्र की सृष्टि की गई है। मनोज पहले सावित्री का प्रेमी होता था। वह बार-बार उसे अपने घर पर बुलाती थी, लेकिन वही उसकी बड़ी बेटी बिन्नी को घर से भगाकर ले जाता है और उससे विवाह कर लेता है। इसी प्रकार सावित्री जगमोहन, जुनेजा आदि के साथ भी अपने यौन सम्बन्ध स्थापित करती है और सिंघानिया का उल्लेख तो हम पहले कर चुके हैं। इससे स्पष्ट होता है कि निःस्वार्थ भाव से कोई भी सावित्री की सहायता नहीं करना चाहता।

इन खोखले पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धों के कारण आज दिल्ली जैसे महानगरों के निम्न मध्य वर्गीय परिवार टूट कर बिखरे हुए हैं। आधे-अधूरे नाटक की बड़ी बेटी बिन्नी अपनी माँ सावित्री का ही अनुसरण कर रही है। यद्यपि घर से भागकर उसने मनोज के साथ विवाह कर लिया है, लेकिन उसका दाम्पत्य जीवन कदापि सुखी नहीं कहा जा सकता, बेटा अशोक न तो माँ की इच्छाओं को समझ सकता है और न ही पिता की मजबूरी को। वह घर बैठा बेकार के कामों में उलझा हुआ है। छोटी बेटी घर के असहज वातावरण के कारण उद्दण्ड और मुँहफट बन चुकी है। माता-पिता उसकी ओर ध्यान नहीं दे पाते, अतः वह समय से पहले ही नर-नारी के यौन-सम्बन्धों में रुचि लेने लगी है।

(4) स्वच्छन्द काम सम्बन्धी भावना–आज के भौतिकवादी युग की सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि हमारे शिक्षित युवक-युवतियाँ सामाजिक संयमों और नियमों की धज्जियाँ उड़ा रहे हैं। अनेक बार तो वे अपने माता-पिता को भी आँखें दिखाते हैं। धीरे-धीरे युवक-युवतियाँ स्वच्छन्द काम की ओर अग्रसर हो रहे हैं। अभी कुछ दिन पूर्व दिल्ली पुलिस ने एक सर्वेक्षण करवाया था जिससे पता चला कि मध्यवर्गीय और निम्न मध्य वर्गीय गृहिणियाँ उन्मुक्त काम भावना में विश्वास करने लगी हैं और वे पर-पुरुषों के साथ सम्बन्ध रखने में किसी प्रकार की शर्म महसूस नहीं करती हैं। प्रस्तुत नाटक आधे-अधूरे स्वच्छन्द काम भावना सम्बन्धी समस्या को उजागर करता है। परिवार की गृहिणी सावित्री अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए जगमोहन, जुनेजा, मनोज, सिंघानिया जैसे पर-व्यक्तियों के साथ सम्पर्क स्थापित करती है। उसे अपना पति आधा-अधूरा लगता है, इसलिए पूर्ण पुरुष की तलाश में वह पर-पुरुषों के साथ सम्बन्ध स्थापित करती है। वह एक ओर तो पर-पुरुष के द्वारा सैक्स की पूर्ति करती है, दूसरी ओर उससे अतिरिक्त अनुग्रह भी पाना चाहती है। यही कारण कि वह एक पुरुष से बँधकर नहीं रहना चाहती। इसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि उसके सभी बच्चे बिन्नी, अशोक, किन्नी आदि चरित्रहीनता की ओर अग्रसर होते दिखाई देते हैं। सावित्री की बड़ी लड़की बिन्नी तो सब सीमाओं को पार करती हुई अपनी प्रौढ़ माँ के प्रेमी मनोज के साथ भागकर विवाह कर लेती है, लेकिन बाद में वह अपने इस पति के साथ गृहस्थी नहीं चलाना चाहती। छोटी बेटी किन्नी घर के फूहड़ वातावरण से छोटी आयु में ही यौन-सम्बन्धों में रुचि ले रही है। अशोक अक्सर कैसानोवा वाली पुस्तक पढ़ता है और छोटी बेटी किन्नी भी इस पुस्तक को पढ़ने की कोशिश करती है।

(5) प्रेम-विवाह–पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के फलस्वरूप हमारे युवक और युवतियाँ स्वच्छन्द प्रेम में विश्वास रखने लगे हैं। युवतियाँ विवाह से पूर्व Boy-Friend बनाती हैं और युवक Girl-friends बनाते हैं। भौतिकवादी दृष्टिकोण के कारण सच्चा प्रेम तो गूलर का फूल हो गया है। हर रोज प्रेम विवाह होते हैं और टूट भी जाते हैं। विशेषकर महानगरों में लोग प्रेम विवाह को आधुनिक सोच का प्रतीक मानने लगे हैं। उधर हमारे चलचित्र, सीरियल तथा दूरदर्शन के अन्य कार्यक्रम भी प्रेम-विवाह को बढ़ावा दे रहे हैं। एक सर्वेक्षण के अनुसार दिल्ली में प्रतिवर्ष जितने विवाह होते हैं, उनमें से 40% तलाक का शिकार हो जाते हैं। पुनः बड़े महानगरों में स्त्रियाँ अथवा पुरुष किसी एक विवाह बन्धन में बँधकर नहीं रहना चाहते। महेन्द्र और सावित्री का परिवार इतना गया-गुजरा नहीं है। सावित्री के वेतन से घर के खर्चे को बखूबी चलाया जा सकता है, लेकिन सावित्री भौतिकवादी प्रवृत्ति से ग्रस्त है। वह घरों में आधुनिकतम सुविधाएँ चाहती है जिसके लिए अधिक धन की आवश्यकता है। वह अपने बेटे अशोक को एक अच्छी नौकरी दिलाने के लिए कामुक प्रवृत्ति के व्यक्ति सिंघानिया को घर पर बुलाती है। सावित्री भली प्रकार से जानती है कि सिंघानिया एक चरित्रहीन व्यक्ति है, फिर भी वह उसकी ओर आकर्षित है।

महेन्द्र और सावित्री, मनोज और बिन्नी तथा अशोक और वरुणा के माध्यम से नाटककार ने विभिन्न प्रेम-प्रसंगों की चर्चा की है। महेन्द्र-सावित्री, मनोज और बिन्नी दोनों ही प्रेम विवाह करते हैं। न तो महेन्द्र सावित्री से सन्तुष्ट है और न ही सावित्री महेन्द्र से। लगभग यही स्थिति मनोज और बिन्नी की है। जुनेजा का तो यह भी कहना है कि महेन्द्र अपनी पत्नी सावित्री से अत्यधिक प्यार करता है और वह नहीं चाहता कि उसकी पत्नी सावित्री पर-पुरुषों के साथ सम्पर्क करे। पुनः बिन्नी भी मनोज के साथ भागकर विवाह करती है, लेकिन उसका विवाह सफल नहीं होता। इस सन्दर्भ में बिन्नी स्वयं कहती है–"मेरा मतलब है कि शादी से पहले मुझे लगता था कि मनोज को बहुत अच्छी तरह जानती हूँ–अब आकर लगने लगा है कि वह जानना बिल्कुल जानना नहीं था.... कि दो आदमी जितना ज्यादा साथ रहें, एक हवा में साँस लें, उतना ही ज्यादा आपको एक-दूसरे से अजनबी महसूस करें।" स्पष्ट है कि नाटककार प्रेम-विवाह की समस्या को आधुनिक समस्या मानता है। अतः वह इसके दुष्परिणामों की ओर भी दर्शकों का ध्यान आकर्षित करना चाहता है।

(6) कृत्रिम जीवन-शैली–आधुनिक युग में हमारा जीवन बनावटी और दिखावटी बनकर रह गया है। विशेषकर मध्य वर्ग के परिवार बड़ा ही आडम्बरपूर्ण जीवन जीते हैं। घर में भले ही अर्थाभाव हो, लेकिन वे किसी अच्छे होटल में भोजन करने का दिखावा

करते हैं। महानगरों का शायद ही कोई ऐसा परिवार हो जिसने बैंकों से कर्जा न लिया हो। आज तो मकान, कार, स्कूटर, फ्रिज, टी. वी. आदि सभी के लिए ऋण लेने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। महानगरों का मध्य वर्ग हमेशा अपनी चादर से बाहर पैर फैला रहा है। वह अनाप-शनाप खर्चा करके स्वयं को धनवान दिखाना चाहता है, लेकिन मकान, कार, घरेलू सामान की मासिक किस्तें सारी आमदनी को खा जाती हैं। प्रस्तुत नाटक आधे-अधूरे में नाटककार ने आधुनिक युग के मध्यवर्गीय परिवार की स्थिति पर प्रकाश डाला है। जिस समय महेन्द्रनाथ एक सफल व्यापारी था, उस समय उसने या उसकी पत्नी ने बचत की ओर ध्यान नहीं दिया और न ही अपने अनावश्यक खर्चे में कटौती की, बल्कि वह और उसकी पत्नी सावित्री दोनों ही अपने खर्चों में वृद्धि करते रहे। एक स्थल पर महेन्द्रनाथ अपने पूर्वकालीन खर्चों के बारे में कहता भी है—**"पता है कितना खर्च था उन दिनों घर का? चार सौ रुपए महीने का मकान था, टैक्सियों में आना-जाना होता था, किस्तों पर फ्रिज खरीदा गया था, लड़के-लड़की की कान्वेंट की फीसें जाती थीं।"** फिर अचानक महेन्द्रनाथ का व्यापार ठप्प हो गया। यदि सावित्री एक सफल गृहिणी होती तो वह निश्चय से संकट के लिए कुछ पैसे बचा सकती थी, लेकिन उसने यह आवश्यक नहीं समझा। पति-पत्नी का एक ही चिन्तन था—

खाओ-पीओ करो आनन्द

बाड़ में जाए परमानन्द।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आधे-अधूरे नाटक आधुनिक युग बोध से जुड़ा हुआ नाटक है। इसमें नाटककार ने पारम्परिक जीवन मूल्यों तथा पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धों के विघटन का उद्घाटन किया है। नाटक का प्रतिपाद्य आधुनिक समस्याओं और जीवन मूल्यों का उद्घाटन करता है। इस सन्दर्भ में डॉ. इन्द्रनाथ मदान ने उचित ही लिखा है—"इस टूटते-बिखरते परिवेश में आधुनिकता का बोध इतना मानवीयता की नियति के स्तर पर नहीं है, जितना उसकी स्थिति के आधार पर है और इतना—जितना इसलिए कि एक स्तर को दूसरे स्तर से अलग नहीं जा सकता। इसी तरह फालतू आदमी जवाबों में उसका उतना दब्बूपन्न नहीं है जितना उसके व्यक्ति का विसंगत होना है। उसके लिए घर में सब रबड़-स्टैंप हैं और वह खुद एक रबड़ का टुकड़ा है।" पुनः स्त्री-पुरुष का वार्तालाप आधुनिकता बोध को और भी गहरा बना देता है। आधे-अधूरे नाटक का प्रत्येक पात्र तन से भी विभक्त है और मन से भी। यदि हम इन सभी खण्डित पात्रों का मूल्यांकन करें तो निश्चय से वर्तमान परिस्थितियों से लड़ा जा सकता है। आधुनिक बोध में जुड़ा होने के कारण यह नाटक हमारे समाजशास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों के समक्ष एक बहुत बड़ी चुनौती प्रस्तुत करता है। इस सन्दर्भ में डॉ. दिनेश चन्द्र वर्मा उचित ही लिखते हैं—**"इसमें मध्य वित्तीय स्तर से ढहकर निम्न मध्य वित्तीय स्तर पर शहरी परिवार का कड़वाहट भरा चित्रण है। विडम्बना यह है कि व्यक्ति स्वयं अधूरा होते हुए भी दूसरों के अधूरेपन को सहना नहीं चाहता और काल्पनिक पूरेपन की तलाश में भटककर अपनी और दूसरों की जिन्दगी नरक बना देता है। नाटककार इस स्थिति को कुछ विशेष व्यक्तियों या परिवारों तक सीमित न मानकर सामान्य मानता है।"**

◆◆◆

2. परिवार संस्था का स्वरूप

2. 'परिवार संस्था के स्वरूप' की कसौटी पर आधे-अधूरे नाटक की समीक्षा कीजिए।

अथवा

'आधे-अधूरे' नाटक महानगरीय मध्यवर्गीय परिवारों का दस्तावेज है।'—सोदाहरण स्पष्ट करें।

अथवा

''आधे-अधूरे' नाटक में महानगरीय परिवेश में मध्यवर्गीय परिवारों के दाम्पत्य सम्बन्धों के विघटन का मार्मिक उल्लेख किया गया है।'' स्पष्ट कीजिए।

अथवा

सिद्ध कीजिए कि आधे-अधूरे पारिवारिक सम्बन्धों के विघटन की त्रासदी का नाटक है। (Most. Imp.)

उत्तर—इस संसार में प्रत्येक कार्य उद्देश्यपूर्ण होता है। बिना उद्देश्य के कोई भी व्यक्ति कोई भी कार्य नहीं करता, फिर साहित्यकार तो एक बुद्धिशील प्राणी होता है। वह अपनी प्रत्येक रचना के द्वारा पाठकों को कोई-न-कोई सन्देश अवश्य देना चाहता है। संस्कृत के आचार्य मम्मट ने अपनी रचना 'काव्य प्रकाश' में उचित ही लिखा है कि साहित्य की रचना यश-प्राप्ति, धन-प्राप्ति, व्यवहार ज्ञान, अमंगल का विनाश तथा तात्कालिक अनन्त की प्राप्ति आदि के प्रयोजन से की जाती है। भारतीय काव्यशास्त्र में

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया गया है। मोहन राकेश एक सोद्देश्य कलाकार हैं, उन्होंने प्रत्येक नाटक, उपन्यास अथवा कहानी के माध्यम से कोई-न-कोई सन्देश पाठकों को अवश्य प्रदान किया है। आषाढ़ का एक दिन, लहरों के राजहंस तथा आधे-अधूरे राकेश जी के तीन प्रमुख नाटक हैं। इन तीनों नाटकों में से आधे-अधूरे राकेश के विकसित नाटक कला का उत्कृष्ट रूप कहा जा सकता है। इसका कथानक आज के महानगरीय समाज से सम्बद्ध है। हमारा महानगरीय समाज सांस्कृतिक संक्रमण काल से गुजर रहा है। भौतिक सभ्यता के विकास ने हमारे जीवन में उथल-पुथल मचा दी है। पहले जमाने में घर का एक सदस्य कमाता था और दस सदस्य खाते थे, आज घर का प्रत्येक सदस्य कमाता है फिर भी उसकी आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो पातीं, भौतिक चकाचौंध ने हमारे जीवन में अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न कर दी हैं। आज भारतीय समाज में नारी घर से बाहर निकलकर आर्थिक बोझ को कम करने के लिए नौकरी करने लगी है। फलस्वरूप वह पर-पुरुषों के सम्पर्क में आने लगी है जिसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि युगों पूर्व से विकृत काम-कुण्ठा ने मर्यादा की सीमा को तोड़ दिया है। विशेषकर हमारे मध्यम वर्ग को इस यंत्रणा में से गुजरना पड़ रहा है। हमारे परिवार अब परिवार नहीं रहे, वे अब टूटने लगे हैं। विशेषकर महानगरीय मध्यवर्गीय परिवार एक विचित्र प्रकार के संघर्ष का सामना कर रहा है। घुटन, अलगाव, दिशाहीन, पारस्परिक कलह तथा आवारगी के कारण घर के सदस्य सामाजिक मर्यादाओं को तोड़कर भटकाव की ओर बढ़ रहे हैं। मोहन राकेश ने अपने प्र... नाटक में मध्यवर्गीय परिवार के विघटन की समस्या को प्रस्तुत किया है। इसी को हम नाटक का प्रतिपाद्य अथवा उद्देश्य कह सकते हैं। इस सन्दर्भ में भी शिवप्रसाद सिंह ने उचित ही लिखा है—**"इस तरह मियां-बीवी वाले छोटे मनुष्यों की समस्याएँ और परेशानियाँ अलग तरह की हैं। ऊपर से देखने पर लगता है कि ऐसे छोटे-छोटे कुनबे बहुत आराम चैन से रहते हैं। दो प्राणियों के बीच का प्रेम अपने और अपने बच्चों की जिन्दगी को रस से भर देता होगा। पर वस्तुतः ऐसी बात होती नहीं, आदमी का मन इतना सीधा होता नहीं, एक से बँध कर रहना उसका स्वभाव नहीं होता, प्रयत्न अवश्य ही होता है पर प्रयत्न हमेशा ही सफल हो यह जरूरी नहीं होता, परिणामतः मियां-बीवी वाले छोटे कुनबे में अशान्ति का प्रवेश होता है, परिवार के बीच एक नए किस्म का आउट साइडर प्रवेश करता है। पति की प्रेमिका के रूप में या पत्नी के प्रेमी के रूप में। छोटे परिवारों के लिए आदमी के मूल स्वभाव से उत्पन्न यह समस्या बहुत बड़े संकट का कारण बन जाती है।"**

प्रस्तुत नाटक में पारिवारिक विघटन की समस्या के अतिरिक्त कुछ अन्य समस्याओं को भी उठाया गया है। इनमें आर्थिक अभाव की समस्या, महानगरीय परिवारों की विसंगतियाँ, सामाजिक सम्बन्धों का खोखलापन, नारी की नौकरी समस्या आदि कुछ अन्य प्रश्न भी उभर कर हमारे सामने आते हैं, जिनका विवेचन इस प्रकार है—

परिवार संस्था का स्वरूप और 'आधे-अधूरे' नाटक

↓

(1) मध्यवर्गीय पारिवारिक विघटन की समस्या

↓

(2) आर्थिक अभावों की समस्या

↓

(3) महानगरीय मध्यवर्गीय परिवारों की विसंगतियों का उद्घाटन

↓

(4) सामाजिक सम्बन्धों का खोखलापन

↓

(5) पात्रों के आधे-अधूरे का उद्घाटन

↓

(6) नारी की नौकरी की समस्या

↓

(7) काम और प्रेम की समस्या

(1) मध्यवर्गीय पारिवारिक विघटन की समस्या–प्रस्तुत नाटक में आधुनिक मध्य वर्गीय परिवार की विघटन की समस्या को प्रमुख आधार बनाया गया है। यह परिवार सामाजिक, आर्थिक तथा मानसिक परिस्थितियों का शिकार है। इस परिवार के माता-पिता और बच्चे यद्यपि एक ही छत के नीचे रहते हैं, लेकिन उनमें न तो आत्मीयता है और न ही घर के प्रति लगाव। इस परिवार की आर्थिक अवस्था जीर्ण-शीर्ण हो चुकी है। घर का मुखिया महेन्द्रनाथ एक असफल पति और एक असफल व्यापारी सिद्ध हो चुका है। वह निठल्ला और बेकार होने के कारण अपनी पत्नी सावित्री की कमाई पर पल रहा है। इस स्थिति में घर के सदस्य न तो उसका आदर-मान करते हैं और न ही उससे ठीक प्रकार से बोलते हैं। सभी में एक-दूसरे के प्रति अविश्वास एवं अनादर की भावना उत्पन्न हो चुकी है। महेन्द्रनाथ अपनी दयनीय स्थिति को स्वीकार करता हुआ कहता भी है–**"हर वक्त की दुत्कार, हर वक्त की कौंच, बस यही कमाई है। मेरी इतने सालों की।"** दूसरी ओर, सावित्री अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए पर-पुरुषों के साथ अपने सम्बन्ध जोड़ती है। अपने बेटे अशोक को अच्छी नौकरी दिलाने के लिए वह सिंघानिया जैसे भ्रष्ट और चरित्रहीन व्यक्ति को अपने घर पर बुलाती है। यही नहीं, वह मनोज, जगमोहन, जुनेजा जैसे कामुक लोगों के साथ भी सम्बन्ध जोड़ती है। सावित्री का आवारापन उसकी बड़ी बेटी बिन्नी, छोटी बेटी किन्नी तथा अशोक को भी प्रभावित करने लगता है। बिन्नी तो अपने माँ के प्रेमी मनोज के साथ भाग जाती है। वह मनोज के घर पर भी टिक कर नहीं रहना चाहती और घर लौटकर अपनी माँ जैसा जीवन व्यतीत करना चाहती है। अशोक दिन भर घर पर बैठा रहता है और पत्रिकाओं में से अभिनेत्रियों की तस्वीरें काटता है। बिन्नी अपनी उम्र से अधिक परिपक्व नजर आने लगती है और पुरुष और नारी के यौन सम्बन्धों में रुचि लेने लगती है। इस प्रकार घर के बच्चों में अपने माता-पिता के प्रति किसी प्रकार की श्रद्धा भावना नहीं है। भाई-बहनों में भी किसी प्रकार का लगाव नजर नहीं आता। पूरा परिवार विघटित होने जा रहा है। घर के सभी सदस्य घर को छोड़कर बाहर निकलने के लिए तत्पर हैं। नाटक की इस समस्या को लेकर ओम शिवपुरी ने लिखा भी है–**"एक दिग्दर्शक की दृष्टि से आधे-अधूरे मुझे समकालीन हिन्दी का पहला सार्थक नाटक लगता है। यह मौजूदा जीवन की विडम्बना के कुछ सघन बिन्दुओं को रेखांकित करता है। इसके पात्र, स्थितियाँ एवं मनःस्थितियाँ यथार्थपरक एवं विश्वसनीय हैं.... आधे-अधूरे आज के जीवन के एक गहन अनुभव को मुक्त करता है।"**

वस्तुतः इस नाटक में महानगरीय मध्य वर्गीय परिवारों का प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है। नाटककार ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि आज महानगरों के मध्य वर्गीय परिवार किस प्रकार अन्दर-ही-अन्दर टूट चुके हैं। घर के सदस्यों के आपसी सम्बन्ध क्षीण हो चुके हैं और वे केवल एक बोझ के रूप में इस सामाजिक ढोंग को ढो रहे हैं। प्रस्तुत नाटक की नायिका सावित्री समय-असमय अपने पति पर ताने कसती रहती है। महेन्द्रनाथ अपनी इस दयनीय स्थिति को स्वीकार करने के लिए विवश है। वह जानता है कि उसके बच्चे भी माँ का अन्धानुकरण कर रहे हैं, लेकिन वह कुछ भी नहीं कर पाता क्योंकि उसकी सुनने वाला कोई नहीं है। यदि वह कमाऊ पति होता तो घर के सभी लोग उसके नियन्त्रण में रहते। इस सन्दर्भ में डॉ. **प्रतिभा अग्रवाल** लिखती है–**"महानगरीय विशेषकर जीवन जीने वाले मध्यवर्गीय आधुनिक परिवार की परिस्थितियों, सम्बन्धों, आपसी मन-मुटाव, घुटन, त्रासदी आदि का ऐसा सशक्त चित्रण सम्भवतः किसी भारतीय नाटक में नहीं है। इससे स्पष्ट होता है कि प्रस्तुत नाटक स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों, अमानवीय स्थितियों तथा पारिवारिक विघटन और बिखराव का एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज दिखाई देता है। पारिवारिक विघटन के प्रभाव के कारण ही घर के बच्चे विपथगामी हो चुके हैं और पत्नी (सावित्री) तो पहले ही नौकरी के चक्कर में कुमार्ग को ग्रहण कर चुकी है।"**

(2) आर्थिक अभावों की समस्या–आज के भौतिकवादी युग में धन प्रत्येक व्यक्ति के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि घर में पैसा नहीं आता तो घर का कोई भी काम सुचारु रूप से नहीं चल सकता। आधे-अधूरे नाटक में वर्णित परिवार अब आर्थिक अभावों का शिकार बन चुका है। एक समय महेन्द्रनाथ एक सफल व्यापारी होता था। वह अपनी पत्नी सावित्री से अत्यधिक प्रेम करता था और उसकी इच्छाओं को पूरा करने के लिए विवेकहीन होकर खर्च करने लगा, लेकिन अब वह व्यापार में घाटा खा चुका है जिससे परिवार की स्थिति शोचनीय हो चुकी है। स्वयं महेन्द्रनाथ अपने परिवार की पूर्वकालीन आर्थिक स्थिति के बारे में कहता है–**"पता है, कितना खर्च था उन दिनों उस घर का? चार सौ रुपये महीने का मकान था, टैक्सियों में आना-जाना होता था। किस्तों पर फ्रिज खरीदा गया था, लड़के-लड़की की कान्वेंट की फीसें जाती थीं।"** लेकिन अब घर की आर्थिक स्थिति डगमगा गई है। महेन्द्रनाथ बेकार, निठल्ला और निकम्मा है। वह छोटा-मोटा काम नहीं करना चाहता। फलस्वरूप सावित्री की नौकरी से परिवार चल रहा है। वह बड़े-बड़े लोगों से सम्पर्क स्थापित करती है। ऐसा करने से एक ओर तो उसकी यौन वृत्ति सन्तुष्ट होती है और दूसरी ओर वह अपने बेटे अशोक को नौकरी दिलवाना चाहती है। वस्तुतः सावित्री आर्थिक कारणों से ही कुमार्ग को ग्रहण करती है। इस सन्दर्भ में डॉ. कृष्ण देव शर्मा ने लिखा भी है–**"वह आवारा हो जाती है और बड़े-बड़े नामधारियों के सम्पर्क में**

आती है क्योंकि उसे व्यक्ति नहीं, उसके पद से प्यार है। यह प्रक्रिया एक अच्छे खासे परिवार को दीमक की तरह चाट जाती है। पुरुष बेकारी के कारण अपने को पंगु अनुभव करता है। बाहर जो प्रताड़ना और लाछना सुननी पड़ती है, इसका प्रतिकार वह स्त्री से लेता है। महानगरों के मध्य वर्ग को इस आर्थिक यंत्रणा में रोज पिसना पड़ता है।" इस सन्दर्भ में डॉ. नेहा शर्मा ने भी लिखा है—**"सावित्री पूरे आदमी की प्राप्ति की महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित होकर वह जब किसी को अपने यहाँ बुलाती है तो उनसे वह एक ओर सैक्स की पूर्ति करती है, दूसरी ओर अतिरिक्त अनुग्रह जुटाने की व्यावहारिक बुद्धि भी।"**

वस्तुतः अर्थ मानव-जीवन के लिए नितान्त आवश्यक है। उसके बिना हमारा जीवन चल ही नहीं सकता। घर की छोटी लड़की किन्नी की स्कूल की आवश्यकताएँ धनाभाव के कारण पूरी नहीं हो पातीं और वह स्कूल छोड़कर घर बैठ जाती है। दूसरी ओर सावित्री अर्थ प्राप्ति के लिए नौकरी करती है और अनेक पुरुषों के साथ सम्पर्क स्थापित करके कुमार्गगामिनी बन जाती है। अर्थाभाव और गृह कलह के कारण पूरा परिवार विनाश के कगार पर खड़ा दिखाई देता है। अतः यदि घर में अर्थाभाव न होता तो न तो सावित्री को नौकरी करनी पड़ती, न ही पति-पत्नी के सम्बन्धों में बिखराव उत्पन्न होता और न ही घर के बच्चे भटकाव का शिकार बनते। अतः आर्थिक अभाव की समस्या इस नाटक की दूसरी महत्त्वपूर्ण समस्या है।

(3) महानगरीय मध्यवर्गीय परिवारों की विसंगतियों का उद्घाटन—आज के युग में महानगरीय मध्यवर्गीय परिवारों में अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न हो गई हैं। स्तरीकरण की दौड़ में दौड़ता हुआ यह परिवार विनाश के कगार पर आकर खड़ा हो गया है, क्योंकि सेक्स की पूर्ति और धन प्राप्ति की चाह में सावित्री ने अनेक पुरुषों के साथ अपने सम्बन्ध स्थापित कर लिए हैं। लेकिन उसका परिणाम कुछ नहीं। श्री रन्नारायण कहते हैं—**"अभाव की कड़ुवाहट से मुँह और शरीर विकृत करने का जितना अधिक अनुभव मध्य वर्ग में लक्षित किया जाता है, उतना शायद किसी वर्ग में नहीं। मध्यवर्गीय व्यक्ति में आस-पास की परिस्थितियों के कारण तथा उच्च वर्ग के लोगों के सम्पर्क में आने के कारण और अधिक पाने की इच्छा अधिक तीव्र हो जाती है। और उन्हें जो कुछ प्राप्त है, उससे वे सन्तुष्ट नहीं हो पाते। उसके इस असन्तोष के कारण उसका जीवन कड़ुवाहट से भर जाता है और उसे जो कुछ प्राप्त है उसे भी वह खो देता है—लेकिन सब जगह ठोकरें खाने के बाद भी उसे जो कुछ भी प्राप्त है, उसे छोड़कर जो उसके पास नहीं है उसे वही वह प्राप्त करना चाहता है।"** ....मोहन राकेश ने भी मध्यवर्गीय परिवार की इस विचित्र स्थिति को अपनी रचनाओं का विषय बनाया है। इन रचनाओं में उनका नाटक आधे-अधूरे महत्त्वपूर्ण है।

पति के व्यापार के असफल हो जाने के पश्चात् सावित्री परिवार की आर्थिक स्थिति को संभालती है। वह घर से बाहर निकलकर नौकरी करती है और ऊँचे पद वाले व्यक्तियों से भौतिक सम्पर्क स्थापित करती है। अपने बेटे अशोक को नौकरी दिलवाने के लिए वह सिंघानिया जैसे कामुक व्यक्ति को अपने घर पर बुला लेती है। सिंघानिया का उसके घर पर आना न तो अशोक को अच्छा लगता है और न उसकी बेटी बिन्नी तथा किन्नी को और न ही महेन्द्रनाथ को। इस सन्दर्भ में रूप नारायण ने उचित ही लिखा है—**"ठाठ-बाट की जिन्दगी जीने की लालसा से मध्यवर्गीय व्यक्ति दूसरों की ओर आकृष्ट होता है। जाहिर है यह व्यक्ति उसकी दृष्टि में अधिक सम्पन्न है और उनके सम्पर्क में उसके स्वप्न अधिक सुखद हो सकते हैं।"** सावित्री भी ऐसा ही करती है। वह जब एक व्यक्ति से निराश हो जाती है तो दूसरे की ओर लपकती है। पहले जुनेजा था, फिर जगमोहन, फिर दीपक और अब ये सिंघानिया, लेकिन उसे न तो पूर्ण पुरुष की प्राप्ति होती है और न ही कोई आर्थिक लाभ। फलतः उसका अपना मन कुण्ठा से भर जाता है और पारिवारिक जीवन में कड़वाहट उत्पन्न होने लगती है। दुःख की बात तो यह है कि उसे अपना पति लिजलिजा और चिपचिपा लगता है और दूसरा पुरुष उसे आकर्षक लगता है, इसलिए वह आवारा बन जाती है। सावित्री की इस मनोदशा का उद्घाटन करते हुए जुनेजा कहता भी है—**"तुम्हारे लिए जीने का मतलब रहा है कितना कुछ एक-साथ होकर, कितना एक-साथ पाकर और कितना एक-साथ ओढ़कर जीना, वह उतना ही कुछ कभी तुम्हें किसी एक जगह नहीं मिल पाता। इसलिए जिस किसी के साथ जिन्दगी शुरू करती, तुम हमेशा ही इतनी खाली इतनी बेचैन बनी रहती।"** यह मध्यवर्गीय विसंगतियाँ केवल पति-पत्नी के सम्बन्धों तक ही सीमित नहीं हैं। घर के पुरुषों में भी विसंगतियाँ देखी जा सकती हैं क्योंकि घर के बच्चे माँ-बाप से ही प्रायः प्रभावित होते हैं।

(4) सामाजिक सम्बन्धों का खोखलापन—प्रस्तुत नाटक 'आधे-अधूरे' महानगरीय मध्यवर्गीय परिवार के सदस्यों के सम्बन्धों के खोखलेपन को भी उद्घाटन करता है। परिवार के आपसी सम्बन्धों में एक खालीपन, शून्यता और निर्जीवता देखी जा सकती है। महेन्द्रनाथ और सावित्री भले ही पति-पत्नी हैं, लेकिन उनमें पति-पत्नी जैसा कोई सम्बन्ध नजर नहीं आता। वे जब भी आमने-सामने होते हैं तो उनमें झगड़ा होने लगता है। पत्नी पति से तंग आ चुकी है और घर छोड़कर कहीं बाहर जाना चाहती है। इसी प्रकार पति महेन्द्रनाथ पत्नी से तंग आ चुका है और वह अपने मित्र जुनेजा के पास चला जाता है। घर में आए दिन

गाली-गलौच और मारपीट होती रहती है। घर के सभी सदस्यों के बीच घुटन, तनाव और अलगाव देखा जा सकता है। बड़ी लड़की बिन्नी घर के सामाजिक सम्बन्धों के खोखलेपन को उजागर करती हुई कहती है–**"मैं यहाँ थी तो मुझे कई बार लगता था कि मैं एक घर में नहीं, चिड़ियाघर के एक पिंजरे में रहती हूँ जहाँ.... आप शायद सोच भी नहीं सकते हैं कि क्या-क्या होता रहा है। यहाँ डैडी का चीखते हुए ममा के कपड़े तार-तार कर देना.... उनके मुँह पर पट्टी बाँधकर उन्हें बन्द कमरे में पीटना.... खींचते हुए गुसलखाने में कमोड पर ले जाकर.... (सिहरकर) मैं तो बयान भी नहीं कर सकती है कि कितने-कितने भयानक दृश्य देखे हैं इस घर में मैंने.... दो आदमी जो रात-दिन एक-दूसरे की जान नोंचने में लगे रहते हैं।"**

पति-पत्नी के बीच की यह दरार पूरे परिवार के वातावरण को दूषित कर देती है। उनके झगड़ों तथा मार-पीट का प्रभाव बच्चों पर भी पड़ता है। वे भी एक-दूसरे से कटे-फटे नजर आते हैं और मौका मिलते ही लड़ने-झगड़ने लग जाते हैं। अशोक और किन्नी की नोंक-झोंक तो हमेशा ही चलती रहती है। कोई भी माँ-बाप का सम्मान नहीं करता। भले ही सावित्री नौकरी करके घर को चला रही है, लेकिन अशोक अथवा किन्नी दोनों माँ के प्रति श्रद्धा नहीं रखते। सावित्री सिंघानिया के माध्यम से अशोक को नौकरी दिलवाना चाहती है और इसलिए उसे घर पर आमन्त्रित करती है। इस पर अशोक कहता है–**"मुझे नहीं चाहिए नौकरी कम-से-कम, उस आदमी के जरिए हरगिज नहीं।"** इसी प्रकार से बिन्नी भी घर के वातावरण से पूर्णतया असन्तुष्ट है। यद्यपि मनोज उसकी माँ का प्रेमी था, लेकिन वह उसके साथ घर से भाग जाती है। और वहाँ भी उसका मन नहीं टिक पाता। वह अपने पति मनोज को छोड़कर फिर घर लौट आती है इस सन्दर्भ में वह अपनी माँ से कहती है–**"एक गुबार-सा है जो हर वक्त मेरे अन्दर भरा रहता है और मैं इन्तजार में रहती हूँ जैसे कि कब कोई बहाना मिले जिसे बाहर निकाल लूँ। ....क्योंकि मुझे यही लगता है कि.... कैसे बताऊँ क्या लगता है? वह (मनोज) जितने विश्वास के साथ यह बात करता है, उससे.... उससे मुझे अपने से एक अजीब-सी चिढ़ होने लगती है। मन करता है आस-पास की हर चीज को तोड़-फोड़ डालूँ। कुछ ऐसा कर डालूँ जिससे उसके मन को कड़ी से कड़ी चोट पहुँचा सकूँ। उसे मेरे लम्बे काले बाल अच्छे लगते हैं, इसीलिए सोचती हूँ कि इन्हें ही जाकर कटा आऊँ। वह मेरे नौकरी करने के हक में नहीं है, इसलिए चाहती हूँ कि कहीं भी, कोई भी छोटी-मोटी नौकरी ढूँढ़कर कर लूँ। कुछ भी ऐसी बात जिससे एक बार तो वह अन्दर से तिलमिला उठे, पर कर मैं कुछ भी नहीं पाती और जब नहीं कर पाती, तो खीझकर.... कई-कई दिनों के लिए अपने को उससे काट लेती हूँ। पर धीरे-धीरे हर चीज फिर उसे ढर्रे पर लौट आती है।"** इसी प्रकार किन्नी भी उद्दण्ड, ढीठ और मुँहफट बालिका बन चुकी है। उसके मन में न तो माता-पिता के प्रति कोई आदर-भावना है और न ही भाई-बहन के प्रति। उसके लिए घर पर घण्टा-घण्टा भर तक दूध गर्म नहीं होता कोई उसकी बात नहीं सुनता। स्कूल में भूख लगने पर उसके पास पैसे नहीं होते कि वह कुछ खरीदकर खा सके। वह पूर्णतया अशिष्ट और झगड़ालू बन चुकी है। घर के वातावरण से प्रभावित होने के कारण वह छोटी-सी आयु में परिपक्व हो चुकी है और पुरुष तथा स्त्री के यौन सम्बन्धों में रुचि लेने लगी है। इस प्रकार नाटक के सभी पात्र गृह कलह के शिकार हैं। वे एक-दूसरे को ताने मारते हुए देखे जा सकते हैं। उनमें एक खालीपन, सूनापन और निर्जीवता उत्पन्न हो चुकी है।

(5) पात्रों के आधे-अधूरे का उद्घाटन–प्रस्तुत नाटक आधे-अधूरे के सभी पात्र सचमुच आधे-अधूरे हैं। सभी अपने अधूरेपन को पूर्ण करने के लिए अन्यत्र तलाश करते हुए दिखाई देते हैं। सर्वप्रथम हम महेन्द्रनाथ के अधूरेपन की चर्चा कर सकते हैं। वह एक असफल व्यापारी है तथा बेकार, निकम्मा तथा घर-घुसरा व्यक्ति है जो कि पत्नी की कमाई पर निर्भर है। सावित्री उसे अधूरा पति मानती है तथा उसके बारे में कहती है–**"जब से मैंने उसे जाना है, मैंने उसे हमेशा हर चीज के लिए किसी-न-किसी का सहारा ढूँढ़ते हुए पाया है खास तौर से आपका। यह करना चाहिए या नहीं जुनेजा से पूछ लो, वहाँ जाना चाहिए या नहीं जुनेजा से राय कर लूँ। कोई छोटी से छोटी चीज खरीदनी है वह भी जुनेजा की पसन्द से, कोई बड़े से बड़ा खतरा है तो भी जुनेजा की सलाह से। यहाँ तक भी मुझसे ब्याह करने का फैसला कैसे किया उसने? जुनेजा की हामी भरने से जिन्दगी में हर चीज की कसौटी जुनेजा.... जुनेजा तो एक पूरा आदमी है अपने आप में और वह खुद? वह खुद पूरे आदमी का एक चौथाई भी नहीं।"** इसलिए सावित्री एक पूरा आदमी प्राप्त करना चाहती है। वह महेन्द्रनाथ से कभी भी सन्तुष्ट नहीं रही क्योंकि उसे महेन्द्रनाथ में कभी अपना एक माद्दा और न ही अपनी शख्सियत दिखाई दी। वह अपनी इच्छाओं को पूरा करने के लिए पर पुरुषों के सम्पर्क में आती है, लेकिन अन्त में वह यही घोषणा करती है–**'सबके-सब.... सबके-सब। एक-से, बिल्कुल एक-से हैं आप लोग। अलग-अलग मुखौटे, पर चेहरा? चेहरा सबका एक ही।'** डॉ गोबिन्द चातक ने इस सन्दर्भ में लिखा भी है–**"सावित्री एक के बाद एक पुरुष को आजमाती है और सबको आधा-अधूरा करार देती है। सच्चाई यह है कि आदमी कभी कोई पूरा नहीं होता–आपसी सम्बन्धों की पूर्णता ही उसे पूरा बनाती है। ....किन्तु अधूरी होकर भी दूसरों का अधूरापन देखना उसका दोष नहीं। किसी भी स्त्री के मन में यह आकांक्षा होती है कि पुरुष में वह पूर्णता मिले जो स्वयं उसमें नहीं।"**

(6) नारी की नौकरी की समस्या–स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् नारी शिक्षा पर अधिक बल दिया जाने लगा। धीरे-धीरे शिक्षा प्राप्त नारियाँ घर की चारदीवारी को त्यागकर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रवेश करने लगीं। यही नहीं, वे बैंक, स्कूल, कॉलेज, अस्पताल, उद्योग तथा सरकारी कार्यालयों में नौकरियाँ करने लगीं। प्रस्तुत नाटक में मोहन राकेश ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि यदि घर का पुरुष कोई कामकाज नहीं करता तो नारी नौकरी करके घर को चला सकती है। सावित्री एक ऐसी ही नारी है। उसका पति महेन्द्रनाथ एक असफल व्यापारी है। वह निठल्ला, निकम्मा और घर-घुसरा है। सावित्री नौकरी करके परिवार को बिखरने से बचाने की कोशिश करती है। नौकरी करते समय ही सावित्री का सम्पर्क जुनेजा, शिवजीत, मनोज, सिंघानिया तथा जगमोहन से होता है। इसका एक दुष्परिणाम यह हुआ है कि सामाजिक नैतिक मापदण्डों के लिए खतरा उत्पन्न हो गया है। सावित्री अपने बेटे अशोक को नौकरी दिलाने के लिए पर-पुरुष के साथ अनैतिक सम्बन्ध स्थापित करती है और उनको घर पर आमन्त्रित भी करती है। इसलिए उसके बच्चे आवारा, चरित्रहीन और अनुशासनहीन बन जाते हैं। नारी की नौकरी द्वारा लेखक मानो यह सिद्ध करना चाहता है कि जिस परिवार की नारी नौकरी करती है, उसके बच्चे प्रायः भटक जाते हैं। सावित्री भले ही नौकरी करके परिवार का भरण-पोषण करती है, लेकिन उसकी नौकरी के कारण ही सारा परिवार विनाश के कगार पर खड़ा हो जाता है।

(7) काम और प्रेम की समस्या–'आधे-अधूरे' नाटक में काम विषयक समस्या को भी उठाया गया है। सावित्री अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए शिवजीत, मनोज, सिंघानिया, जगमोहन आदि पर-पुरुषों के साथ सम्बन्ध स्थापित करती है और सामाजिक नैतिक मापदण्डों को ठुकराकर काम विषयक धारणाओं से मुक्ति पाना चाहती है। इस सन्दर्भ में डॉ. नेहा शर्मा ने उचित ही लिखा है–**"पूरे आदमी की महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित होकर वह जब किसी को अपने यहाँ बुलाती है। उनरो वह एक ओर सेक्स की पूर्ति करती है, दूसरी ओर अतिरिक्त अनुग्रह जुटाने की व्यावहारिक बुद्धि भी दिखाती है। वह एक पुरुष के साथ बँध कर नहीं रह सकती। इसलिए वह काम-पिपासा को अनेक पर-पुरुषों से शान्त-तृप्त करती है। इसीलिए घर के अन्य सदस्य अशोक, बिन्नी और किन्नी में भी यही चरित्रहीनता दृष्टिगोचर होती है। बिन्नी भी मनोज के साथ बँध कर रहना नहीं चाहती। वह भी सावित्री की भाँति अनेक पुरुषों से सम्पर्क बनाने के लिए लालायित है। नाटककार ने प्रस्तुत नाटक में महेन्द्र-सावित्री तथा मनोज-बिन्नी के माध्यम से प्रेम विवाह की समस्या पर भी विचार किया है। विवाह से पहले सावित्री जुनेजा, जगमोहन तथा शिवजीत के सम्पर्क में थी, बाद में उसने महेन्द्र से प्रेम विवाह कर लिया। इसी प्रकार मनोज और सावित्री में भी प्रेम था, लेकिन वाद में मनोज ने बिन्नी के साथ प्रेम विवाह कर लिया। अतः दूसरी ओर घर का लड़का अशोक भी वरुणा नाम की लड़की से प्रेम करता है। लगता है कि घर के सभी सदस्य काम भावना से अत्यधिक ग्रसित हैं।"** इस सन्दर्भ में श्री राजकुमार ने लिखा भी है–**"महेन्द्र अपनी पत्नी और घर से जिस ढंग से जुड़ा हुआ है, उसे प्रेम कहा जा सकता है। जुनेजा का विचार है कि महेन्द्र सावित्री से बेहद प्यार करता है। सम्भवतः वह इसी कारण उसका किसी अन्य से मिलना-जुलना भी उचित नहीं समझता। प्रेम और अधिकार दोनों में असफलता से उसका व्यवहार खण्डित हो जाता है, किन्तु यहाँ प्रेम प्रमुखता प्राप्त नहीं कर सका। नाटक के दो अन्य प्रेम प्रसंग हैं, बिन्नी और मनोज का तथा अशोक और वरुणा का। दोनों के घर पर क्षयग्रस्त वातावरण का प्रभाव है। बिन्नी के लिए तो मनोज का प्रेम महज बहाना था, घर के उस घेरे से बाहर हो जाने का, किन्तु अपने घर की हवा को बाहर भी वह अपने और मनोज के बीच में से हटा नहीं पाती थी और उराकी प्रणय भावना प्रिय पात्र को आहत करने की दुर्दमनीय इच्छा में परिवर्तित हो जाती है। निराशा और भंग के सिवाय उसके हाथ और कुछ भी तो नहीं लगता। अशोक और वरुणा का प्रेम संकेतित।"**

इधर कुछ विद्वानों ने मोहन राकेश पर यह आरोप लगाया है कि 'आधे-अधूरे' का उद्देश्य अनिश्चित है। जो व्यक्ति को उद्घोषित के रूप में सर्वप्रथम मंच पर उपस्थित होता है, वह भी नाटक की अनिश्चितता को स्वीकार करता है। इस सन्दर्भ में डॉ. कृष्णदेव हजारी ने लिखा भी है–**"न जाने एक अनिश्चित नाटक रचने–एक उद्देश्यहीन रचना करने में आज के लेखक को क्या माना जाता है? ...इसमें एक मध्यवर्गीय, किन्तु निम्न मध्य वित्तीय परिवार के जीवन की बिडम्बना का यथातथ्य चित्रण हुआ है, जो अपने में लक्ष्यहीन एवं अनिश्चित है। ....पर लेखक ने यथातथ्य चित्रण करने के सिवाय कोई प्रेरणादायक सुझाव या समस्या का हल प्रस्तुत नहीं किया। (गोया नाटककार कोई वैद्य है जो रोग को पहचानकर उसकी दवा-दारू भी दे) नाटक का अंत उसी अनिश्चित स्थिति में होता है।"** डॉ. हजारी द्वारा उद्देश्य की अनिश्चितता का आरोप लगाना सर्वथा तर्कसंगत नहीं है। हमें यह नहीं भूलना होगा कि यह नाटक महानगरीय संत्रास्त बोध से जुड़ा हुआ नाटक है। वह महानगरीय मध्यमवर्गीय परिवार की विभिन्न समस्याओं पर प्रकाश डालना चाहता है। एक-साथ अनेक प्रश्न उभर कर पाठक के सामने आते हैं। संभवतः इसलिए डॉ. हजारी प्रसाद को यह कहना पड़ा कि यह नाटक उद्देश्यहीन है। पुनः हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि निम्न मध्य वित्तीय परिवार की विडम्बडना यह है कि वह लक्ष्यहीन आगे बढ़ रहा है। घर के सभी सदस्य अपने-अपने ढंग से जीने का प्रयास कर रहे हैं। नाटककार

नाटक एक यथार्थवादी सामाजिक नाटक है, जिसमें महानगरीय परिवार के विघटन की समस्या को रेखांकित किया गया। प्रस्तुत नाटक का प्रमुख पात्र महेन्द्रनाथ अर्थात् पुरुष एक, एक सशक्त पात्र है और यह नाटक के आरम्भ से अन्त तक कथा से सम्बद्ध है। वह न केवल नाटक का नायक है, बल्कि अनुशासनहीन परिवार के आवारापन का भुक्तभोगी भी है। प्रति परिस्थितियों का शिकार बनने के कारण वह भीतर और बाहर से टूट चुका है। एक निठल्ला और उत्तरदायित्वहीन व्यक्ति के कारण वह अपने परिवार में निरन्तर उपेक्षा का शिकार बनता है। वह अपने बारे में कहता भी है—**"मैं इस घर में एक स्टैम्प भी नहीं सिर्फ एक रबड़ का टुकड़ा हूँ, बार-बार घिसा जाने वाला एक रबड़ का टुकड़ा।"** महेन्द्रनाथ की पत्नी सावित्री एक बेजान, बेकार, व्यक्तित्वहीन और आधा-अधूरा आदमी समझती है। विभिन्न आलोचकों ने महेन्द्रनाथ के बारे में अलग-अ विचार व्यक्त किए हैं। इस सन्दर्भ में डॉ. कृष्ण देव शर्मा लिखते भी हैं—**"नाटककार ने उसे उस वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में प्रस्त किया है जो निठल्लेपन और घर-घुसरेपन के कारण परिवार का मुखिया होते हुए भी अपमानजनक जीवन व्यतीत करने को वि हैं। महेन्द्रनाथ के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अपनी पत्नी सावित्री के आचार-विचारों से कुढ़ता है, उसे उस आवारापन के कारण अपमानित करता है, कई बार वर्जित करता है और अन्ततः कुण्ठाग्रस्त होकर घर छोड़कर चला भी जाता किन्तु फिर भी सावित्री को छोड़ नहीं पाता और दिल का दौरा पड़ने की स्थिति में भी लंगड़ाते हुए फिर उसी घर में लौट आता जहाँ से वह अपमानित होकर चला गया था। उसका व्यक्तित्व सपाट है और केवल एक घर छोड़ने वाले प्रसंग के अतिरिक्त को भी मानसिक घात-प्रतिघात उसके चरित्र में दृष्टिगोचर नहीं होता। वह नाटक के प्रारम्भ में ही एक टूटे हुए व्यक्ति के रूप में दिखा देता है और अन्त में भी उसकी टूटन लंगड़ेपन के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो पाती। वह कुढ़नशील, ईर्ष्यालु, निठल्ला, शंका और अधूरे व्यक्तित्त्व वाले पुरुष के रूप में इस नाटक में चित्रित हुआ है।"**

डॉ. रमेश चन्द्र मिश्र महेन्द्रनाथ के व्यक्तित्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं—**"जीवन के संघर्ष में असफल हुआ महेन्द्रनाथ विवश होकर स्त्री की कमाई का उपजीवी बनता है। घर से निकल पड़ने की उसकी जीवन्त मजबूरियाँ हैं। गृहपति की मर्यादा उससे छिन जाती है। वह अपने मन की कटुता को सह पाने में असमर्थ होकर, व्यंग्य वाक्यों से उसकी अभिव्यक्ति करता रहता है। वह सदैव से ऐसा नहीं था, पर सावित्री सदैव यह सिद्ध करने में लगी रहती है कि वह हीन है, छोटा है, निकम्मा है, अतः पराजित मनोभाव का शिकार होकर वह सावित्री के प्रति मानसिक गुलाम बन जाता है। उसे लगता है कि वह उसके बिना नहीं रह सकता। इन्हीं कुण्ठाओं के घर करने से वह पत्नी को पीटता है, कमोड पर खींच कर संभोग करता है। बच्चों को पीटता है। उसे लगता है कि वह घर में एक रबड़ स्टैंप के सिवाय कुछ भी नहीं है।"**

नाटक के अध्ययन अनुशीलन के पश्चात् महेन्द्रनाथ के चरित्र की जो विशेषताएँ उभरकर सामने आती हैं, वे निम्नलिखित हैं—

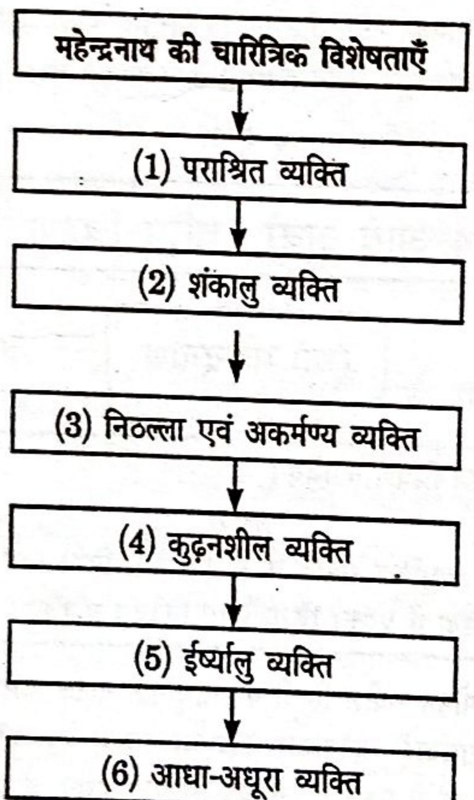

(1) परआश्रित व्यक्ति–महेन्द्रनाथ का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। उसकी सोच भी दूसरों पर निर्भर करती है। जीवन में कोई भी निर्णय लेना हो तो वह हमेशा जुनेजा जैसे मित्रों का मुँह ताकता रहता है। उसकी पत्नी सावित्री स्वीकार करती है कि महेन्द्रनाथ एक लिजलिजा, दूसरों पर निर्भर रहने वाला और कमजोर व्यक्ति है। उसका न तो कोई स्वतन्त्र अस्तित्व है और न ही व्यक्तित्व है। एक स्थल पर वह कहती भी है–"आदमी होने के लिए क्या यह जरूरी नहीं है कि उसमें अपना एक माद्दा, अपनी एक शख्सियत हो? जब से मैंने उसे जाना है, हमेशा हर चीज के लिए किसी-न-किसी का सहारा ढूँढ़ते पाया है। यही नहीं लगता है, वह खुद एक आदमी का आधा चौथाई भी नहीं है।"

सावित्री महेन्द्रनाथ के व्यक्तित्व को भली प्रकार से जानती है। वह एक पूर्ण पुरुष की तलाश में है। महेन्द्रनाथ में उसे पूर्ण पुरुष के गुण नजर नहीं आते, इसलिए वह कहती है कि महेन्द्रनाथ में कोई भी कार्य करने की क्षमता नहीं है। वह हर बात के लिए हमेशा जुनेजा पर निर्भर रहता है और कोई छोटी-से-छोटी चीज भी खरीदनी हो तो वह जुनेजा की सलाह लेता है। वह कहती भी है–"यह करना चाहिए या नहीं–जुनेजा से पूछ लूँ, यहाँ जाना चाहिए या नहीं–जुनेजा से राय ले लूँ, कोई छोटी से छोटी चीज भी खरीदनी है तो भी जुनेजा की पसन्द से, कोई बड़े से बड़ा खतरा उठाना है तो जुनेजा की सलाह से, यहाँ तक कि मुझसे विवाह करने का फैसला भी किया, उसमें जुनेजा की हामी भरने से।"

महेन्द्रनाथ में स्वयं निर्णय लेने की शक्ति नहीं है, इसलिए वह व्यापार में घाटा खा जाता है। वह हर बात के लिए दूसरों की सलाह को अहमियत देता है और अन्ततः असफलताओं के कारण अकर्मण्य, घर-घुसरा और निठल्ला बन जाता है और पत्नी की कमाई पर जीवनयापन करने लगता है। इसीलिए वह एक आधा-अधूरा व्यक्ति बन जाता है। विवाह से पूर्व वह अपने माता-पिता पर निर्भर था और बाद में अपने मित्र जुनेजा पर। उसकी अपनी बौद्धिक क्षमता का विकास नहीं हो पाता इसीलिए उसकी पत्नी सावित्री भी उसे छोड़कर अन्य पुरुषों की ओर आकर्षित होती है। यही नहीं, घर के सभी लोग पुरुष एक की उपेक्षा करने लगते हैं।

(2) शंकालु व्यक्ति–महेन्द्रनाथ के चरित्र की एक अन्य विशेषता यह है कि वह एक शंकालु व्यक्ति है। भले ही वह अपनी पत्नी सावित्री से हृदय से प्रेम करता है, लेकिन वह सदैव उसके चरित्र पर शंका करता है। इसके विपरीत सावित्री यह तर्क देती है कि वह बेटे अशोक को नौकरी दिलवाने के लिए बड़े-बड़े लोगों से सम्पर्क करती है या उनको घर पर निमन्त्रित करती है। लेकिन यह सुनकर महेन्द्रनाथ उसे चरित्रहीन सिद्ध करता है। जब भी कोई व्यक्ति उसके घर पर सावित्री के साथ आया अथवा उसकी घर पर कोई चर्चा हुई तो महेन्द्रनाथ का शंकालु हृदय जल उठा। नाटक में ऐसे अनेक अवसर देखे जा सकते हैं जिनमें पुरुष एक का शंकित व्यक्तित्व उभर कर पाठक के सामने आया है।

स्त्री – उसे किसी के यहाँ खाना खाने जाना है इधर। पाँच मिनट के लिए यहाँ भी आयेगा। मुझे यह आदत अच्छी नहीं लगती, कितनी बार कह चुकी हूँ।

पुरुष एक – तुम्हीं ने कहा होगा उससे आने के लिए।

स्त्री – कहना फर्ज नहीं बनता मेरा? आखिर मेरा बॉस है।

पुरुष एक – बॉस का मतलब यह थोड़े ही है कि....?

स्त्री – लोगों को तो ईर्ष्या है मुझसे, कि दो बार मेरे यहाँ आ चुका है। आज तीसरी बार आयेगा।

पुरुष एक – तो लोगों को भी पता है वह आता है यहाँ?

स्त्री – क्यों बुरी बात है?

पुरुष एक – मैंने कहा है बुरी बात है? मैं तो बल्कि कहता हूँ अच्छी बात है।

स्त्री – वैसे हजार बार कहोगे कि लड़के की नौकरी के लिए किसी से बात क्यों नहीं करती? और जब मैं मौका निकालती हूँ उसके लिए तो....।

पुरुष एक – हाँऽऽ, सिंघानियाँ तो लगवा ही देगा जरूर, इसीलिए बेचारा आता है यहाँ चलकर।

स्त्री – शुक्र नहीं मानते कि एक इतना बड़ा आदमी, सिर्फ एक बार कहने भर से....।

पुरुष एक – मैं नहीं शुक्र मनाता? जब-जब किसी नये आदमी का आना-जाना शुरू होता है यहाँ मैं हमेशा शुक्र मनाता हूँ। पहले जगमोहन आया करता था, फिर मनोज आने लगा था।

महेन्द्रनाथ की शंकालु भावना उस समय भी और अधिक प्रदीप्त हो उठती है जब बिन्नी मनोज के घर से भागकर आती है। वह सावित्री के समक्ष अपनी शंकालु प्रवृत्ति को उजागर करता है–

पुरुष एक – मुझे तो यह उसी तरह आयी लगती है।

स्त्री – चाय ले लो।

पुरुष एक – इस बार कुछ सामान भी नहीं है साथ में।

स्त्री – हो सकता है थोड़ी देर के लिए आयी हो।

पुरुष एक – पर्स में सिर्फ एक ही रुपया था। रिक्शा का पूरा किराया भी नहीं।

स्त्री – क्या पता कहीं और से आ रही हो।

पुरुष एक – तुम हमेशा बात को ढकने की कोशिश क्यों करती हो? एक बार इससे पूछती क्यों नहीं खुलकर?

स्त्री – क्या पूछूँ?

पुरुष एक – यह मैं बताऊँगा तुम्हें? मेरी उस आदमी के बारे में कभी अच्छी राय नहीं थी। तुम्हीं ने हवा बाँध रखी थी उसकी कि मनोज यह है, वह है जाने क्या है। तुम्हारी शह से उसका घर में आना-जाना न होता, तो क्या यह नौबत आयी कि लड़की उसके साथ जाकर बाद में इस तरह...?

अपनी शंकालु प्रवृत्ति के कारण ही बार-बार वह सावित्री से झगड़ा कर लेता है। न उसे समझा पाता है और न ही स्वयं उसकी मजबूरियों को समझ पाता है।

(3) निठल्ला एवं अकर्मण्य व्यक्ति–नाटककार मोहन राकेश ने महेन्द्रनाथ को एक निठल्ले व्यक्ति के रूप में चित्रित किया है। आरम्भ में वह एक व्यापारी था। उसका अच्छा-खासा व्यवसाय चल रहा था, लेकिन उसने ऐय्याशी में सारा पैसा उड़ा दिया। फलस्वरूप उसका व्यापार ठप्प हो गया। एक स्थल पर वह अपनी पूर्व स्थिति पर प्रकाश डालता हुआ कहता भी है–"**चार सौ रुपये महीने का मकान था, टैक्सियों में आना-जाना होता था। किस्तों पर फ्रिज खरीदा गया था, लड़के-लड़की की कान्वेंट की फीसें जाती थीं।**" यही नहीं, उसके घर पर मित्र आते थे और शराब के दौर चलते थे और दावतें होती थीं। अन्धाधुन्ध पैसा खर्च किया जाता था। लेकिन धीरे-धीरे घर की आर्थिक स्थिति बिगड़ती चली गई। महेन्द्रनाथ अब बेकार हो गया और सावित्री को नौकरी करनी पड़ी। सामान्य पाठक को भी यही लगता है कि महेन्द्रनाथ सावित्री की कमाई पर जी रहा है। उसकी स्थिति दयनीय हो चुकी है। भले ही वह गृहस्वामी भी है, लेकिन उसकी हालत नौकर से भी गई हो चुकी-है। इस निठल्लेपन तथा आरामतलबी के कारण वह दिन-भर घर पर चाय पीता रहता है अथवा अखबार पढ़ता है। यहाँ तक कि वह घर की भी ठीक से देखभाल नहीं कर पाता। अंततः वह स्वयं को घर की अव्यवस्था का दोषी सिद्ध करता हुआ कहता है–"**अपनी जिन्दगी चौपट करने का जिम्मेदार मैं हूँ। तुम्हारी जिन्दगी चौपट करने का जिम्मेदार मैं हूँ। इन सबकी जिन्दगियाँ चौपट करने का जिम्मेदार मैं हूँ। फिर भी इस घर से चिपका हूँ, क्योंकि अन्दर से मैं आरामतलब हूँ, घर-घुसरा हूँ, मेरी हड्डियों में जंग लगा है।**"

आश्चर्य तो इस बात का है कि यह सब होने पर भी वह अपने जीवन में कोई परिवर्तन नहीं लाना चाहता। जैसे-तैसे वह जी रहा है, लगता है कि वह हीनता-ग्रन्थि से ग्रसित है। उसे न तो अपने बच्चों की चिन्ता है और न ही घर की। वह इस स्थिति से बाहर निकलने की भी कोशिश नहीं करता। एक आलोचक के शब्दों में–"**महेन्द्रनाथ में हीन-भावना उत्पन्न हो चुकी है। घर तथा परिवार की दयनीय स्थिति उसके सामने है। पत्नी आवारगी का रास्ता अपना चुकी है। घर के अन्य लोग भी आवारगीपन लिये हुए हैं। वह एक बार भी अपने घर या बीबी-बच्चों को सही रास्ते पर लाने का प्रयास नहीं करता। यद्यपि नाटककार चाहता तो उससे एक-आध प्रयास करवाकर उसे अधिक यथार्थ पात्र बना सकता था।**" धीरे-धीरे सावित्री तथा घर के सभी सदस्य उसकी उपेक्षा करना आरम्भ कर देते हैं। एक स्थल पर वह स्वयं कहता भी है–"**हाँ पूछ कर ही जानना है आज। कितने साल हो चुके हैं मुझे जिन्दगी का भार ढोते? उनमें से कितने साल बीते हैं मेरे इस परिवार की देख-रेख करते? और उसके बाद मैं आज पहुँचा कहाँ हूँ? यहाँ कि जिसे देखो वही मुझसे उल्टे ढंग से बात करता है? जिसे देखो वही मुझसे बदतमीजी से पेश आता है? हर एक के पास एक न एक वजह होती है। इसने इसलिए कहा था। उसने इसलिए कहा था, मैं जानना चाहता हूँ कि मेरी क्या यही हैसियत है इस घर में कि जो जब जिस वजह से जो भी कह दे, मैं चुपचाप सुन लिया करूँ? हर वक्त की धुतकार, हर वक्त की कोंच, बस यही कमाई है यहाँ मेरी इतने सालों की।**"

एक समय था जब वह सावित्री को प्रसन्न करने के लिए उस पर रुपये पानी की तरह बहाता था। किराये पर कोठी ली गई थी और घर में कीमती फर्नीचर भी था। लेकिन अब स्थिति बदल चुकी है। पहले वह कमा कर लाता था, लेकिन अब उसकी पत्नी सावित्री कमा कर लाती है। अब महेन्द्रनाथ घर में निठल्ला एवं अकर्मण्य व्यक्ति बनकर रह गया है। इसीलिए वह घर में सभी की उपेक्षा एवं तिरस्कार का पात्र बन चुका है। वह अपनी पत्नी सावित्री से कहता भी है–**"छोटी-सी बात ही तो है यह अधिकार, रुतबा, इज्जत यह सब बाहर के लोगों से मिल सकती है इस घर को। इस घर का आज तक कुछ बना है या आगे बन सकता है, तो फिर बाहर के लोगों के भरोसे। मेरे भरोसे तो सब कुछ बिगड़ता आया है और आगे बिगड़-बिगड़ सकता है।"**

(4) कुढ़नशील व्यक्ति–महेन्द्रनाथ प्रतिक्षण कुढ़ता रहता है। उसकी कुढ़नशीलता का कारण हीन ग्रन्थियाँ हैं। व्यापार ठप्प हो जाने के बाद वह स्वयं को सर्वाधिक उपेक्षित, तिरस्कृत और अपाहिज व्यक्ति समझता है। यही कारण है कि वह प्रत्येक बात पर कुढ़ता रहता है। घर के सभी सदस्य बात-बात पर उसका अपमान करते हैं। उसकी पत्नी सावित्री तो उसे अपना पति न समझकर घर पर बोझ समझती है। अनेक बार वह अपनी इस भावना का प्रदर्शन भी करती है। बात-बात पर वह उसकी प्रताड़ना करती है। न कहने योग्य बातें भी अपने बच्चों के सामने कह देती है। पत्नी द्वारा की गई घोर उपेक्षा के कारण वह तिलमिला उठता है, लेकिन उसमें प्रतिरोध करने की शक्ति भी नहीं है क्योंकि उसके पास न कोई अपना काम है और न ही आय का कोई साधन। लम्बे काल से वह अपनी पत्नी के वेतन पर ही निर्भर है। वह अकसर बहाने बनाकर उस समय घर से चला जाता है जब सावित्री किसी व्यक्ति को अपने घर पर बुलाती है। इस प्रकार पत्नी द्वारा की गई घोर उपेक्षा के कारण वह ओछा, दब्बू और बौना बन जाता है। नाटक से एक उदाहरण द्रष्टव्य है जिससे उसकी कुढ़नशीलता का पता चलता है–

पुरुष एक – वह सब कहता है वह? और क्या-क्या कहता है?

स्त्री – वह इस वक्त तुमसे बात नहीं कर रही।

पुरुष एक – पर बात तो मेरे ही घर की हो रही है।

स्त्री – तुम्हारा घर! हह!

पुरुष एक – तो मेरा घर नहीं है यह? कह दो नहीं है।

स्त्री – सचमुच तुम अपना घर समझते हो इसे, तो....।

पुरुष एक – कह दो, जो कहना चाहती हो।

स्त्री – दस साल पहले कहना चाहिए था मुझे....जो कहना चाहती हूँ।

पुरुष एक – कह दो अब भी....इससे पहले कि दस साल, ग्यारह साल हो जाएँ।

स्त्री – नहीं होने पाएँगे ग्यारह साल–इसी तरह चलता रहा सब कुछ तो।

पुरुष एक – नहीं होने पाएँगे सचमुच? ....काफी अच्छा आदमी है जगमोहन! और फिर दिल्ली में उसका ट्रांसफर भी हो गया है। मिला था उस दिन कनाट प्लेस में, कह रहा था आएगा किसी दिन मिलने।

इस प्रकार के नाटक में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ महेन्द्रनाथ की मनोदशा और कुढ़नशीलता देखी जा सकती है। यहाँ तक कि वह अखबार के समाचारों को पढ़कर भी अपनी कुढ़न को व्यक्त करने लगता है।

(5) ईर्ष्यालु व्यक्ति–पहले बताया जा चुका है कि महेन्द्रनाथ एक शंकालु व्यक्ति है। सावित्री के चरित्र को लेकर वह हमेशा सशंक रहता है और उसके चरित्र पर सन्देह व्यक्त करता है। लेकिन जो लोग सावित्री के सम्पर्क में आते हैं, उनसे वह ईर्ष्या भी करने लगता है। जब-जब सिंघानिया अथवा कोई अन्य व्यक्ति घर पर आता है तो वह ईर्ष्या के कारण जल उठता है। सावित्री पर तो उसका किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं है। वह उसे रोक भी नहीं पाता, इसलिए अन्य लोगों की उपस्थिति में वह कोई बहाना बनाकर घर से बाहर चला जाता है। उसकी यह प्रवृत्ति उसकी ईर्ष्यालु प्रवृत्ति की ओर संकेत करती है। घर पर सिंघानिया के आने से पहले सावित्री के साथ उसका हुआ वार्तालाप यही दर्शाता है कि वह एक ईर्ष्यालु व्यक्ति है।

पुरुष एक – उसमें क्या है? आदमी को काम नहीं हो सकता बाहर।

स्त्री – वह तो आज भी हो जाएगा तुम्हें।

पुरुष एक – जाना तो है आज भी मुझे....पर तुम जरूरी समझो मेरा यहाँ रहना, तो....।

स्त्री – सचमुच कहीं जाना है क्या तुम्हें? कहाँ जाने की बात कर रहे हो तुम?

पुरुष एक – सोच रहा था जुनेजा के यहाँ हो आता।

इस वार्तालाप के पश्चात् जब सिंघानिया घर में आ जाता है तो वह फाइलों से जूझ जाता है। वह ईर्ष्यावश सावि बातें सुनना चाहता है। इसलिए फाइलों की केवल उठा-पटक ही करता है। वह इस तथ्य को भली प्रकार से जानता है लोग सावित्री के सम्पर्क में आते हैं, वे उसकी अपेक्षा अधिक पढ़े-लिखे, प्रतिष्ठित और सम्मानित लोग हैं। उसके मन भी शंका है कि उसकी पत्नी सावित्री के इन लोगों के साथ अवैध सम्बन्ध हैं। इसलिए वह हर समय ईर्ष्या के कारण रहता है। एक स्थल पर अपनी ईर्ष्या भावना को प्रकट करता हुआ सावित्री से कहता भी है—**"अधिकार, रुतबा, इज्ज सब बाहर के लोगों से मिल सकता है इस घर को। इस घर का आज तक कुछ बना है, या आगे बन सकता है, वह बाहर के लोगों के भरोसे। मेरे भरोसे तो सब कुछ बिगड़ता आया है और आगे बिगड़ ही बिगड़ सकता है।"**

(6) आधा-अधूरा व्यक्ति—यूँ तो प्रस्तुत नाटक के अभी पात्र आधे-अधूरे हैं, लेकिन महेन्द्रनाथ तो पूर्णतया अधूरा व है। उसने कभी न तो अपने परिवार के बारे में सोचा और न ही बच्चों के बारे में। वह हमेशा मित्रों की सलाह पर चलता व्यापार में घाटा खाने के बाद वह निठल्ला और अकर्मण्य बनकर घर में रहने लगा। अपने इस निठल्लेपन और घर-घुसरेप कारण परिवार का मुखिया होने पर भी वह अपमानजनक जीवन व्यतीत करता है। अपने इसी अधूरेपन के कारण ही वह को रबड़-स्टैप—रबड़ का टुकड़ा कहता है। वह स्वीकार करता है कि उसकी वजह से ही सावित्री पर-पुरुषों से सम्बन्ध क के लिए मजबूर है। वह अच्छी प्रकार से जानता है कि वह एक सम्पूर्ण व्यक्ति नहीं है। उसे हमेशा किसी-न-किसी के स की आवश्यकता होती है। अपने व्यक्तित्व का रौब दिखाने के लिए वह सावित्री को फटकारता है, लेकिन मित्रों में दब्बू ब रहता है। बिन्नी अपने पिता के अमानुषिक कृत्यों का वर्णन करते हुए कहती है—**"डैडी का चीखते हुए ममा के कपड़े तार-त कर देना.... उनके मुँह पर पट्टी बाँधकर उन्हें बन्द कमरे में पीटना.... खींचते हुए गुसलखाने में कमोड पर ले जाकर.... मैं बयान भी नहीं कर सकती कि कितने भयानक दृश्य इस घर में देखे हैं मैंने।"**

वस्तुतः मित्रों में दब्बू किस्म का यह व्यक्ति महेन्द्र घर में घुसते ही दरिंदा बन जाता है। दूसरी ओर, सावित्री भी बार-बा यही कहती है कि उसे पूरा आदमी चाहिए क्योंकि वह महेन्द्र को अधूरा समझती है। वह कहती भी है—**"कोई यह न कह सके जिससे कि वह अब पहले वाला महेन्द्र रह ही नहीं गया। और उसके लिए महेन्द्र घर के अन्दर रात-दिन छटपटाता है। दीवारों से सिर पटकता है। बच्चों को पीटता है। बीबी के घुटने तोड़ता है।.... वही महेन्द्र जो दोस्तों के बीच दब्बू सा बना हल्के-हल्के मुस्कुराता है, घर आकर एक दरिंदा बन जाता है। पता नहीं कब किसे नोंच लेगा, कब किसे फाड़ खायेगा.... वह नफरत करती है इस सबसे—इस आदमी के ऐसा होने से, वह एक पूरा आदमी चाहती है अपने लिए एक-एक पूरा... आदमी।"**

इस प्रकार पूरे नाटक में महेन्द्रनाथ एक अधूरे व्यक्ति के रूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत हुआ है। परिवार का मुखिया होते हुए भी वह पूर्णतया टूट चुका है। अपने इसी अधूरेपन को लिए हुए कभी वह घर के बाहर जाता है और कभी लौटकर पुनः घर आ जाता है। सावित्री उससे घृणा करती है तथा बच्चे निरन्तर उसकी उपेक्षा करते हैं। अपने अधूरेपन को स्वीकार करता हुआ वह कहता भी है—"हाँ पूछकर ही जाना है आज। कितने साल हो चुके हैं मुझे जिन्दगी का भार ढोते? उनमें से कितने साल बीते हैं मेरे इस परिवार की देख-रेख करते? और उस सबके बाद मैं आज पहुँचा कहाँ हूँ? यहाँ कि जिसे देखो वही मुझसे उल्टे ढंग से बात करता है? जिसे देखो वही मुझसे बदतमीजी से पेश आता है? हर एक के पास एक न एक वजह होती है? इसने इसलिए कहा था, उसने इसलिए कहा था। मैं जानना चाहता हूँ कि मेरी क्या यही हैसियत है इस घर में कि जो जब जिस वजह से जो भी कह दे, मैं चुपचाप सुन लिया करूँ? हर वक्त की धुतकार, हर वक्त की कोंच, बस यही कमाई है यहाँ मेरी इतने सालों की।"

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि महेन्द्रनाथ प्रतिकूल परिस्थितियों का शिकार बनने के कारण आधा-अधूरा बनकर रह गया है। वह एक निठल्ला, उत्तरदायित्वहीन और पराश्रित व्यक्ति है, जो बात-बात पर अपनी पत्नी सावित्री पर शंका करता है। अकर्मण्य होने के कारण वह दिनभर घर पर निठल्ला पड़ा रहता है और यदि सावित्री के साथ कोई मेहमान घर में आता है तो वह उससे ईर्ष्या करने लगता है। अतः हम कह सकते हैं कि महेन्द्रनाथ ईर्ष्यालु और आधा-अधूरा व्यक्ति है। घर के लोगों की भर्त्सना और अपमान से तंग आकर वह घर छोड़कर चला जाता है, परन्तु अपनी चारित्रिक दुर्बलताओं के कारण एक अयाचित व्यक्ति के रूप में एक बार पुनः घर लौट आता है।

◆◆◆

(ख) सावित्री

5. "सावित्री को 'आधे-अधूरे' नाटक में महत्त्वाकांक्षिणी आधुनिक नारी के रूप में राकेश जी ने प्रस्तुत किया है जो पति की असमर्थता अथवा आर्थिक वैषम्य को उसका अधूरापन मानकर स्वयं अपने अधूरेपन को अन्य पुरुषों से सम्बद्ध कर पूर्ण होने का पूर्ण प्रयास करती है और यह पर-पुरुष आकर्षण उसके व्यक्तित्त्व को ही तोड़कर रख देता है।" इस कथन को ध्यान में रखते हुए सावित्री का चरित्र-चित्रण कीजिए।

अथवा

"सावित्री के रूप में नाटककार मोहन राकेश ने आधुनिक नारी के चारित्रिक पतन को 'आधे-अधूरे' नाटक में बड़े अशक्त और यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है"—इस कथन की मीमांसा कीजिए। **(Most. Imp.)**

अथवा

"सावित्री के माध्यम से लेखक ने यह दिखाना चाहा है कि आधुनिक सावित्री अपने प्राचीन आदर्श से बिल्कुल गिर गई है।" क्या आप इस कथन से सहमत हैं?

अथवा

सावित्री अपने पति से खिंचकर फ्लर्ट (आवारा) वनी हुई है।" प्रस्तुत नाटक में सावित्री का यह चरित्र कहाँ तक चित्रित हुआ है, स्पष्ट कीजिए।

उत्तर–सावित्री का चरित्र चित्रण–सावित्री भले ही इस नाटक की एक प्रमुख नारी पात्र है, लेकिन वह सर्वाधिक विवादग्रस्त और सशक्त पात्र है। वह महेन्द्रनाथ की पत्नी है। वही नाटक की नायिका भी है और नाटक की प्रत्येक घटना अथवा प्रसंग में सक्रिय दिखाई देती है। नाटक का प्रत्येक पात्र उससे जुड़ा हुआ है। इसलिए वह नाटक के कथानक का मूल केन्द्र है। उसी के चारों ओर सारा कथानक चक्कर काटता है। उसका चरित्र बड़ा ही प्रगल्भ और बहुमुखी है। वह नाटक के प्रत्येक पात्र को प्रभावित करती है। उसके पति का नाम महेन्द्रनाथ है। व्यापार में घाटा पड़ने के कारण अब वह बेरोजगार है। अतः निठल्ला और अकर्मण्य बनकर दिनभर घर में पड़ा रहता है, लेकिन सावित्री के मन में आधुनिक सुख-सुविधाओं के प्रति अत्यधिक आसक्ति है। वह जीवन की सभी भौतिक सुख-सुविधाओं को प्राप्त करना चाहती है, परन्तु उसका पति महेन्द्रनाथ उसकी इच्छाओं को पूरा करने में असमर्थ है। घर-गृहस्थी के बोझ को सँभालने के लिए वह घर से बाहर निकलती है और जीविकोपार्जन के लिए नौकरी करती है। घर के बाहर के लोगों से परिचित होने के कारण वह विपथगामिनी हो जाती है। इसका प्रमुख कारण यह भी है कि वह अपने पति को आधा-अधूरा समझती है और पूर्ण पुरुष की तलाश में वह अन्य लोगों के सम्पर्क में आती है, लेकिन उसकी यह तलाश अधूरी ही रह जाती है क्योंकि जिस किसी पुरुष के सम्पर्क में वह आती है अथवा जिस किसी व्यक्ति की ओर वह आकर्षित होती है, वही उसे अधूरा लगता है। किसी भी पुरुष में उसे वह सब कुछ नहीं मिल पाता जिसकी उसे तलाश है। इसलिए श्री सरोज ने सावित्री के बारे में उचित ही लिखा है—**"यह सही है कि आर्थिक कठिनाइयों ने सावित्री को कटु बना दिया है, किन्तु उसके पीछे एक अन्य कारण भी है। उसके मन में एक मृगतृष्णा है जिसके पीछे वह विभ्रान्त बनी घूमती है। सावित्री की दृष्टि में महेन्द्रनाथ अधूरे व्यक्तित्त्व वाला 'चिपचिपा-सा जन्तु' है। काल्पनिक पूर्ण पुरुष की खोज में वह प्रयोग करती चलती है। जगमोहन, शिवजीत, मनोज और जुनेजा सब उसकी महत्त्वाकांक्षा की कसौटी पर अधूरे उतरते हैं। उनमें से वह किसी एक का भी चयन नहीं कर पाती। वह अनुभव करती है कि सबका चेहरा एक है, मुखौटे भले ही अलग-अलग हों। सामाजिक दृष्टि से वह महेन्द्रनाथ को झेलने के लिए विवश है। उससे सावित्री का सम्बन्ध पति-पत्नी का नहीं, घृणा का है। वस्तुतः सावित्री उस आधुनिक भारतीय नारी का प्रतिरूप है जो अपने लिए केवल चार हाथ पैरों वाला आदमी ही नहीं, एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व की माँग करती है। सावित्री की यही अस्थिरता और महत्त्वाकांक्षा महेन्द्रनाथ को हीन और सन्तान को उच्छृंखल बनाती है। कभी वह परिवार से मुक्ति चाहती है तो दूसरे ही पल स्वयं को उससे जुड़ा हुआ अनुभव करती है। उसका अहं उसे महेन्द्रनाथ से कभी भी समझौता नहीं करने देता। जो बात उससे मनवाना चाहता है, वह नहीं मानती। महेन्द्र के प्रति सावित्री की बढ़ती हुई घृणा परिवार में अनेक विकृतियों को जन्म देती है।"**

नाटक के अध्ययन-अनुशीलन के पश्चात् 'सावित्री' के चरित्र की जो विशेषताएँ उभरकर सामने आती है, वे निम्नलिखित हैं-

सावित्री की चरित्रगत विशेषताएँ

↓

(1) नौकरीपेशा नारी

↓

(2) ऐश्वर्य और धन के प्रति आसक्त

↓

(3) महत्त्वाकांक्षिणी

↓

(4) कुमार्गगामी

↓

(5) पीड़ा एवं व्यथा-ग्रस्त

↓

(6) अत्यधिक अहंकारी

(1) नौकरी पेशा नारी–'आधे-अधूरे' नाटक का नायक महेन्द्रनाथ न केवल असफल व्यापारी और बेकार व्यक्ति है, बल्कि घर-घुसरा और निकम्मा भी है। जब सावित्री यह देखती है कि उसका पति पूर्णतया अकर्मण्य बनकर घर पर बैठ गया है तो वह पारिवारिक दायित्व को सँभालती है। वह नौकरी करके घर के सभी सदस्यों का पालन-पोषण करती है। एक ओर तो वह घर से बाहर निकलकर नौकरी करती है तो दूसरी ओर घर लौटकर वह अपनी गृहस्थी को भी सँभालती है। यही नहीं, घर के बच्चों का भी सारा बोझ उसी के कन्धों पर है। वह आज की नारी का प्रतिनिधित्व करने वाली एक असफल नारी कही जा सकती है। क्योंकि भौतिक सुविधाओं को पाने के लिए वह भटक जाती है। वह अपने बॉस सिंघानिया को इसलिए अपने घर पर निमन्त्रित करती है ताकि वह उसके पुत्र अशोक को कोई अच्छी सी नौकरी दिलवा सके, लेकिन जब वह नौकरी करके घर लौटती है तो उसे घर का सारा सामान अस्त-व्यस्त दिखाई देता है। उसका पति महेन्द्र घर पर है, लेकिन वह निकम्मा और नकारा है। सावित्री के चेहरे पर थकान देखी जा सकती है। वह यह देखकर अत्यन्त दुःखी होती है कि घर में चाय के प्याले बिखरे पड़े हैं, कहीं मैला पायजामा है तो कहीं दूसरे कपड़े हैं। वह घर के सभी सदस्यों को सही रास्ते पर लाने का भरसक प्रयास करती है लेकिन वह अपने लक्ष्य में सफल नहीं हो पाती। नाटक से एक उदाहरण देखिए–

पुरुष एक – आ गई दफ्तर से? लगता है, आज बस जल्दी मिल गई।

स्त्री – (ट्रे वापस मेज पर रखती) यह अच्छा है कि दफ्तर से आओ, तो कोई घर पर दिखे ही नहीं, कहाँ चले गए थे तुम?

पुरुष एक – कहीं नहीं, यहीं बाहर था। मार्केट में।

स्त्री – (उसका पायजामा हाथ में लेकर) पता नहीं यह क्या तरीका है इस घर का? रोज आने पर पचास चीजें यहाँ-वहाँ बिखरी मिलती हैं।

पुरुष एक – (हाथ बढ़ाकर) लाओ, मुझे दे दो।

स्त्री – (पायजामे को झाड़कर फिर से तह लगाती हुई) अब क्या दे दूँ? पहले खुद भी तो देख सकते थे।

पुरुष एक – (अपराधी स्वर में) अकेले मैंने।

स्त्री – तो अकेले के लिए क्या जरूरी था कि पूरी ट्रे की ट्रे....किन्नी को दूध दे दिया था?

पुरुष एक – वह मुझे दिखी ही नहीं अब तक।

(2) ऐश्वर्य और धन के प्रति आसक्त–सावित्री आरम्भ से ही धन और ऐश्वर्य पूर्ण जीवन के प्रति आसक्त रही है। जब महेन्द्रनाथ का अच्छा-खासा व्यापार चलता था तो घर में सभी प्रकार की सुख-सुविधाएँ थीं। महंगा फर्नीचर था, किस्तों पर फ्रिज लिया गया था और टैक्सियों में आना-जाना होता था। यही नहीं, घर में शराब की दावतें चलती थीं। उस समय सावित्री चाहती तो बुरे दिनों के लिए कुछ-न-कुछ रुपया बचा सकती थी, लेकिन उसने ऐसा कुछ नहीं किया। महेन्द्रनाथ सावित्री से अत्यधिक प्यार करता है। इसलिए वह उस पर धन लुटाता रहा। व्यापार ठप्प हो जाने के बाद भी सावित्री के मन में धन और ऐश्वर्य के लिए ज्यों-की-त्यों आसक्ति बनी हुई है। वह अपनी भौतिक इच्छाओं को पूरा करने के लिए धन और वैभव के पीछे भागती है। पारिवारिक दायित्व की आड़ लेकर वह घर से बाहर निकलती है और नौकरी करने लगती है। बड़े-बड़े नामधारियों के सम्पर्क में आने के कारण वह आवारगी की ओर कदम बढ़ाती है। फलस्वरूप सावित्री की यह लालसा और आकांक्षा अच्छे-खासे परिवार को बर्बाद कर देती है। नाटक का पात्र जुनेजा सावित्री की इस मनोवृत्ति पर व्यंग्य करता हुआ कहता है–**"पहले कुछ दिन जुनेजा एक आदमी था तुम्हारे सामने। तुमने कहा है तब तुम उसकी इज्जत करती थी पर आज उसके बारे में जो सोचती हो, वह भी अभी बता चुकी हो। जुनेजा के बाद जिससे कुछ दिन चकाचौंध रही तुम वह था शिवजीत। एक बड़ी डिग्री, बड़े-बड़े शब्द और पूरी दुनिया घूमने का अनुभव पर असल चीज वही कि वह जो भी था, और कुछ ही था। महेन्द्र नहीं था, पर जल्दी ही तुमने पहचानना शुरू किया कि वह निहायत दोगला किस्म का आदमी है। हमेशा दो तरह की बातें करता है। उसके बाद सामने आया जगमोहन, ऊँचे सम्बन्ध जबान की मिठास, टिप-टॉप रहने की आदत और खर्च की दरिया-दिली, पर तीर की असली नोक फिर उसी जगह पर कि उसमें जो कुछ भी था जगमोहन का-सा था। महेन्द्र का-सा नहीं था पर शिकायत तुम्हें उससे भी होने लगी थी कि वह सब लोगों पर एक-सा पैसा क्यों उड़ाता है, दूसरे की सख्त से सख्त बात को एक खामोश मुस्कुराहट के साथ क्यों पी जाता है।"**

इसका परिणाम यह होता है कि नौकरी करने के कारण सावित्री पर-पुरुषों के सम्पर्क में आ जाती है। एक समय था जब उसका सम्पर्क जुनेजा के साथ था, बाद में शिवजीत और जगमोहन से उसका सम्पर्क हुआ। यही नहीं, उसने मनोज से भी सम्पर्क स्थापित किया, लेकिन वह उसकी बड़ी बेटी बिन्नी को ले उड़ा। धनिक वर्ग की वह प्रशंसिका बन गई और अपने पति की निरन्तर उपेक्षा करने लग गई। फलस्वरूप बच्चे भी महेन्द्रनाथ को घर में एक फालतू व्यक्ति समझने लगे। सावित्री का इस कद्र पतन हो गया कि वह भारतीय नारी के गौरव और आदर्श को त्यागकर अपने प्रेमियों के साथ रंग-रलियाँ मनाने लगी। इसका प्रमुख कारण एक ही है कि उसे पर-पुरुषों के पद, वैभव, वेतन से प्यार था। इस सन्दर्भ में डॉ. पुष्पा बंसल ने लिखा भी है–**"महेन्द्रनाथ को छोड़कर उसे हर पुरुष अच्छा लगता है। किसी का व्यक्तित्व, किसी की पदवी, किसी का धन और किसी का व्यवहार, एक के प्रति आकृष्ट होकर वह कुछ दिन ही सन्तुष्ट रहती है फिर जल्दी ही उसमें एकरसता और बोरियत महसूस करती है और आगे बढ़ जाती है।"** उसका पुत्र अशोक भी माँ पर करारा व्यंग्य करता हुआ कहता है–**"उसकी किसी बड़ी चीज की वजह से एक को वह इन्टेलेक्चुअल बहुत बड़ा है। दूसरे को कि उसकी तन्ख्वाह पाँच हजार है। तीसरे को कि उसकी तख्ती चीफ कमीश्नर की है। जब बुलाया है आदमी को नहीं–उसकी तनख्वाह को, उसके नाम को, रुतबे को बुलाया है।"** इस प्रकार हम देखते हैं कि सावित्री एक महत्त्वाकांक्षी नारी है जो जीवन में सब कुछ पाना चाहती है, लेकिन पा नहीं सकी। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सावित्री की मन, धन तथा ऐश्वर्य के प्रति विशेष आसक्ति है। इसके लिए वह अपना शरीर भी बेच सकती है। सम्भवतः इसीलिए वह बड़े-बड़े लोगों के साथ सम्पर्क साधती है।

(3) महत्त्वाकांक्षिणी–वस्तुतः सावित्री अपने जीवन में विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ चाहती है। वह अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करना चाहती है। फलस्वरूप उसका परिवार भोगवाद की ओर अग्रसर होता है। महेन्द्र सावित्री से अत्यधिक प्यार करता है। इसीलिए वह अपने व्यापार की चिन्ता न करके घर में सभी सुविधाओं को मुहैया कराता है। टैक्सियों में आना-जाना होता है और दावतों तथा शराब में पैसा लुटाया जाता है। फलस्वरूप शीघ्र ही महेन्द्रनाथ का व्यापार ठप्प हो जाता है। फिर भी सावित्री हमेशा सुविधाओं के पीछे भागती है। वह यह नहीं जानती कि उसकी भोगवादिता भरे-पूरे परिवार को नष्ट कर रही है। यूँ तो वह स्वयं को घर की सर्वाधिक उत्तरदायी सदस्या समझती है। लेकिन असलियत यह है कि वह कामुक और सुविधाजीवी नारी है। वह अपने पति को हमेशा आधा-अधूरा समझती है। वह यह जानती है कि सर्वांग परिपूर्ण व्यक्ति कोई नहीं होता, कुछ-न-कुछ कमी प्रत्येक मनुष्य में होती है। चाहे वह पुरुष हो या नारी, लेकिन वह तो आदमी में एक-साथ अनेक चीजें देखना चाहती है अर्थात् आदमी का पद, उसका व्यक्तित्व, वैभव ही उसे पूरा आदमी बनाता है। पूर्ण पुरुष की तलाश में वह जीवन के रास्ते से भटक जाती है। कुछ भी उसके हाथ नहीं लगता। अंततः वह मन-मसोस कर रह जाती है। पौराणिक सावित्री से आधुनिक सावित्री प्रत्येक दृष्टि से अलग है। पुरुष चार अथवा जुनेजा उसके चारित्रिक पतन को अच्छी प्रकार जानता है। वह सावित्री के चरित्र के पतन को स्पष्ट

करती हुई उसे चुनौती देती है कि वह [illegible] है—**"जो-जो बातें तुमने कही हैं अभी वे गलत नहीं हैं अपने में। लेकिन बाईस साल साथ जीकर जानी हुई बातें वे नहीं हैं। आज से बीस साल पहले भी एक बार लगभग ऐसी ही बातें मैं तुम्हारे मुँह से सुन चुका हूँ। तुम्हें याद है? ...उस दिन पहली बार मैंने तुम्हें इस तरह ढुलते देखा था। तुमने कहा था कि.... वह (महेन्द्र) बहुत लिजलिजा और चिपचिपा सा आदमी है। पर उसे वैसा बनाने वालों के नाम तब दूसरों के थे। ....पर जुनेजा का नाम.... क्यों नहीं था कह दूँ न यह भी? ....असल बात इतनी ही कि महेन्द्र की जगह इनमें से कोई भी आदमी होता तुम्हारी जिन्दगी में, तो साल दो साल बाद तुम यही महसूस करती कि तुमने एक गलत आदमी से शादी कर ली है। ...क्योंकि तुम्हारे लिए जीने का मतलब रहा है कि कितना कुछ एक-साथ पाकर कितना कुछ एक-साथ ओढ़कर जीना वह उतना कुछ कभी किसी एक जगह न मिल पाता इसलिए जिस किसी के साथ भी जिन्दगी शुरू करती, तुम हमेशा इतनी ही खाली, इतनी ही बेचैन बनी रहती।"** इससे स्पष्ट होता है कि सावित्री हमेशा सुख-सुविधाओं को प्राप्त करने के लिए ही प्रयास करती हुई दिखाई देती है। इसके लिए वह बड़े-बड़े लोगों के पीछे भागती है। यहाँ तक कि चरित्रहीन बनकर सिंघानिया जैसे लोगों को अपने घर पर बुलाती है। अपनी महत्त्वाकांक्षाओं के कारण ही उसने परिवार को विनाश के कगार तक पहुँचा दिया।

(4) कुमार्गगामी—सुविधाभोगी कामुक नारी होने के कारण सावित्री अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए यहाँ-वहाँ भटकती रहती है। अपने पति से तो वह असन्तुष्ट है, इसलिए वह जुनेजा से कहती भी है—**"मत कहिए मुझे महेन्द्र की पत्नी।"** महेन्द्रनाथ सावित्री से बहुत प्रेम करता है और सावित्री भी उसे चाहती थी, लेकिन सावित्री का प्रेम तब तक था जब तक महेन्द्रनाथ का व्यापार ठीक से चलता था। व्यापार में घाटा हो जाने के कारण महेन्द्रनाथ बेकार हो गया। वह भली प्रकार से जानती है कि अब महेन्द्रनाथ उसे सुविधाएँ नहीं दे सकता। घर चलाने के लिए वह स्वयं नौकरी करने लगती है, लेकिन उसके थोड़े से वेतन से घर को वे सब सुविधाएँ प्राप्त नहीं हो पातीं—जिन्हें वह चाहती है इसलिए वह पर-पुरुषों के साथ सम्पर्क स्थापित करती है। उसे जो भी पुरुष मिला, उसने उसे निचोड़ा, रस लिया और फिर या तो उसकी लड़की को भगा ले गया या फिर सहानुभूति के दो चार शब्द बोलकर आगे बढ़ गया। धीरे-धीरे सावित्री का पतन होता चला गया और वह न तो सुविधाएँ प्राप्त कर सकी और न ही अपने परिवार को संजो सकी। पूर्ण पुरुष की तलाश में निकली सावित्री को अन्त में कहना पड़ा—**"सब के सब... सब के सब.... एक से। बिल्कुल एक-से है आप लोग! अलग-अलग मुखौटे, पर चेहरा-चेहरा सबका एक ही।"**

इतना सब हो जाने पर भी वह यह स्वीकार नहीं करती कि उसने कोई गलत काम किया है, बल्कि वह प्रतिहिंसा में जलने लग जाती है। उसे लगता है कि समूचा पुरुष वर्ग उसके विरुद्ध है। सभी उसे नष्ट करने के लिए तुले हुए हैं। जुनेजा के सामने अपना अहंकार दिखाते हुए वह कहती है कि महेन्द्रनाथ को अपने पास रख ले, उसे उसकी कोई जरूरत नहीं है। वह कहती भी है—"आप जाइए और कोशिश करके उसे हमेशा के लिए अपने पास रखिए। इस घर में आना और रहना सचमुच मेरे हित में नहीं है, उसके और मुझे भी.... मुझे भी अपने पास उस मोहरे की बिल्कुल-बिल्कुल जरूरत नहीं है जो न खुद चलता है और न किसी और को चलने देता है।"

यह सुनकर जुनेजा भी उससे कहता है कि वह महेन्द्रनाथ को इस बात के लिए तैयार करेगा कि वह अच्छी प्रकार से दुनिया को समझे, आँख खोलकर अपने आस-पास की दुनिया को देखे और अपने आप को सम्भाले। सावित्री को इस बात का कोई दुःख नहीं कि उसका पति उससे तंग आकर चला गया है। इसका प्रमुख कारण यही है कि वह पर-पुरुषों में सुख ढूंढने का प्रयास करती है। वह जुनेजा से कहती है—**"जरूर-जरूर। इस तरह उसका तो उपकार करेंगे ही आप, मेरा भी इससे बड़ा उपकार जिन्दगी में कहीं कर सकेंगे।"**

(5) पीड़ा एवं व्यथा-ग्रस्त—सावित्री के चरित्र में उपर्युक्त दुर्गुण क्यों पैदा हुए यह भी एक विचारणीय प्रश्न है? यह भी सोचने की बात है कि क्या उसकी कामुकता ही उसे कुमार्ग की ओर ले जाती है अथवा क्या वह अपने पारिवारिक दायित्वों के प्रति सजग नहीं है। जब हम इन सभी प्रश्नों पर चिन्तन करते हैं तो पता चलता है हम उसके चरित्र को ठीक प्रकार से समझ नहीं सके। उसके कुमार्ग की ओर बढ़ने का प्रमुख कारण उसका अपना पति है। हम महेन्द्रनाथ को निर्दोष नहीं मान सकते। यह सही है कि वह पद, सम्मान, वैभव और पूर्ण आदमी की तलाश में भटक जाती है, लेकिन इसके लिए केवल सावित्री ही दोषी नहीं है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से महेन्द्रनाथ के व्यवहार ने उसे निराश कर दिया। जब वह पत्नी बनकर महेन्द्रनाथ के घर में आई तो उसने देखा कि महेन्द्र पराश्रित रहने वाला व्यक्ति है। वह हमेशा अपने मित्रों और विशेषकर जुनेजा पर निर्भर रहता है। उसमें स्वयं निर्णय लेने की शक्ति नहीं है। वह स्वभाव से दब्बू किस्म का आदमी है और मित्रों के बहकावे में आ जाता है। मित्रों में

वह हमेशा दबकर मुस्कुराता रहता था, लेकिन सावित्री के सामने शेर बनने की कोशिश करता था। महेन्द्रनाथ की हीन भावना का दुष्प्रभाव सावित्री पर पड़ा। सावित्री महेन्द्र को इसलिए आधा-अधूरा कहती है क्योंकि वह मित्रों की सलाह के बिना कोई काम नहीं कर सकता। उसे इस बात से भी नफरत है कि महेन्द्र ने जुनेजा की सलाह से ही विवाह किया। इसलिए वह यही निर्णय लेती है कि महेन्द्र में पूर्ण पुरुष के गुण नहीं है, अतः पूरे आदमी की तलाश में वह भटक जाती है परिणामस्वरूप अयाचित पीड़ा तथा व्यथा को भोगती है। एक स्थल पर वह कहती भी है—**“मत कहिए मुझे महेन्द्र की पत्नी। महेन्द्र भी एक आदमी है, जिसके अपना घरबार है, पत्नी है, यह बात महेन्द्र को अपना कहना वालों को शुरू से रास नहीं आई। महेन्द्र ने ब्याह क्या किया, आप लोगों की नज़र में आप का ही कुछ आपसे छीन लिया। महेन्द्र अब पहले की तरह हँसता नहीं। महेन्द्र अब दोस्तों में बैठकर पहले की तरह खिलता नहीं। महेन्द्र अब वह पहले वाला महेन्द्र रह नहीं गया और महेन्द्र ने जी जान से कोशिश, कि वह वही बना रहे, किसी तरह कोई यह न कह सके जिससे कि वह पहले वाला महेन्द्र रह ही नहीं गया। और इसके लिए महेन्द्र घर के अन्दर रात-दिन छटपटाता है। दीवारों से सिर पटकता है। बच्चों को पीटता है। बीबी के घुटने तोड़ता है।”**

सच तो यह है कि अपने पति से असन्तुष्ट होने के कारण सावित्री निरन्तर दुःखों को भोगती रहती है। वह न तो पति को प्रसन्न कर पाती है और न ही अपने बच्चों को। उसके जीवन में मात्र निराशा और व्यथा है। वह जुनेजा, जगमोहन, सिंघानिया आदि सबसे परेशान है। अपने पति महेन्द्रनाथ के बारे में वह कहती है—**“....दोस्तों के लिए जो फुरसत काटने का वसीला है, वही महेन्द्र के लिए उसका मुख्य काम है जिन्दगी में और उसका ही नहीं, उसके घर के लोगों का भी वही मुख्य काम होना चाहिए। तुम फलां जगह चलने से इन्कार कैसे कर सकती हो? फलां से तुम ठीक से बात क्यों नहीं करती? तुम अपने को पढ़ी-लिखी कहती हो? तुम्हें तो लोगों के बीच उठने-बैठने तक की तमीज नहीं है। ....और वही महेन्द्र जो दोस्तों के बीच दब्बू आ बना हल्के-हल्के मुस्कुराता है, घर आकर एक दरिंदा बन जाता है। ....बोल, बोल, बोल, चलेगी उस तरह कि नहीं जैसे मैं चाहता हूँ? मानोगी वह अब की नहीं जो मैं कहता हूँ? पर सावित्री फिर भी वैसे नहीं चलती। वह सब नहीं मानती। वह नफरत करती है इस सबसे—इस आदमी के ऐसा होने से। वह एक पूरा आदमी चाहती है अपने लिए एक पूरा... आदमी। गला फाड़ कर वह बात कहती है। कभी आदमी को वह आदमी बना सकने की कोशिश करती है। कभी तड़पकर अपने को इससे अलग कर लेना चाहती है। पर अगर उसकी कोशिशों से थोड़ा भी फर्क पड़ने लगता है इस आदमी में तो दोस्तों में इसका गम मनाया जाने लगता है। सावित्री महेन्द्र की नाक में नकेल डालकर उसे अपने ढंग से चला रही है। सावित्री बेचारे महेन्द्र की रीढ़ की तोड़कर उसे किसी लायक नहीं रहने दे रही है। जैसे कि आदमी न होकर बिना हांड-मांस का पुतला हो वह एक बेचारा महेन्द्र।”**

अहंकार भावना से ग्रस्त नारी—सावित्री में अहंकार भावना भी है। क्योंकि अब वह नौकरी करती है और समझती है कि परिवार उसी के सहारे चल रहा है।

लड़का – चुकन्दर है, वह आदमी है? जिसे बैठने का शऊर है, न बात करने का।

स्त्री – पाँच हजार तनख्वाह है उसकी। पूरा दफ्तर सँभालता है।

लड़का – पाँच हजार तनख्वाह है, पूरा दफ्तर सँभालता है, पर इतना होश नहीं है कि अपनी पतलून के बटन ...।

स्त्री – अशोक।

निष्कर्ष—वस्तुतः सावित्री परिस्थितियों का शिकार है। महेन्द्रनाथ द्वारा काम न करने के कारण उसे घर का सारा दायित्व सँभालना पड़ता है। जब घर पर खाने को कुछ है ही नहीं तो उसे मजबूर होकर नौकरी करनी पड़ती है। वह बड़े-बड़े लोगों से इसलिए सम्पर्क करती है ताकि बड़े लड़के अशोक को कोई नौकरी दिलवा सके। घर के अन्य सदस्य घर को घर नहीं समझते। यहाँ-वहाँ कूड़े का ढेर लगा देते हैं। उसे घर भी सम्भालना पड़ता है और बाहर भी। आर्थिक विसंगतियों, पति के निठल्लेपन तथा महत्त्वाकांक्षाओं ने उसे आवारा बना दिया है। लेकिन यह सब उसने स्वेच्छा से नहीं किया, बल्कि परिस्थितियों के कारण परन्तु यह भी सत्य है कि सावित्री पूर्ण पुरुष को प्राप्त करना चाहती है। उसका पति निठल्ला और बेकार है। घर के सभी लोग मनमानी करते हैं और कोई उसकी नहीं सुनता। यदि गहराई से देखा जाए तो वह स्वयं एक आधी-अधूरी नारी है और पूर्ण पुरुष की तलाश में अनेक पुरुषों के सम्पर्क में आती है। उसे न तो कोई पूर्ण पुरुष मिलता है और न ही उसकी कामनाएँ तृप्त होती हैं।

◆◆◆

आलोचनात्मक प्रश्न

1. जीवनी साहित्य में 'आवारा मसीहा' का स्थान

1. हिन्दी जीवनी साहित्य में विष्णु प्रभाकर विरचित जीवनी 'आवारा मसीहा' का स्थान निश्चित कीजिए।

अथवा

'आवारा मसीहा' हिन्दी साहित्य की सर्वश्रेष्ठ जीवनियों में से एक है। कथन की समीक्षा कीजिए।

उत्तर–जीवनी साहित्य में 'आवारा मसीहा' का स्थान–संस्कृत साहित्य में जीवनी के लिए **'जीवन चरित्र'** शब्द का प्रयो किया गया है। मध्य युग में 'जीवनी' के लिए चरित तथा चरित्र या नाम आदि शीर्षक प्रचलित थे। भारतेन्दु काल में 'जीवनी' का एक साहित्यिक विधा के रूप में प्रचलन हुआ। वस्तुतः जीवनी क्या है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जीवनी किसी व्यक्ति विशेष के जीवन और कृतित्व का विवरण होता है। किसी मनीषी अथवा सुपरिचित के जीवन का सच्चा, यथार्थ और कहीं-कहीं आदर्श रूप जीवनी में प्रस्तुत किया जाता है। इसीलिए जीवनी किसी व्यक्ति विशेष के जीवन की किन्हीं महत्वपूर्ण घटनाओं व धारणाओं की प्रस्तुति माना जाता है। जीवनी लेखन में लेखक अपनी मित्रता की पहचान भी संस्मरण की भांति कराता चलता है। इसीलिए जीवनी लेखक जीवनी में अनेक शैलियों एवं विधाओं का प्रयोग रोचकता और प्रभावोत्पादकता के लिए करता है। अथवा लेखन वह उसकी प्रेरणा और प्रभाव से करता है। यद्यपि जीवनी का आधार दूसरा व्यक्ति या दूसरे व्यक्ति का जीवन होता है। इसमें उसके जीवन के महत्वपूर्ण पक्षों को उजागर किया जाता है, किन्तु इस प्रस्तुति में लेखक की अपनी अभिरुचियों, धारणाओं को भी पहचाना जा सकता है। जीवनी के माध्यम से वह दोहरे दायित्व का निर्वाह करता प्रतीत होता है।

जीवनी की रचना प्रक्रिया को देखते हुए कहा जा सकता है कि जीवनी लेखक अपनी रचना को प्रामाणिक बनाने के लिए अनेक आधार अपनाता है। एक विशिष्ट व्यक्ति के जीवन और कृतित्व को समझने के लिए उसकी रचनाओं को आधार बनाता है। उसके समकालीनों से उसके विषय में जानकारी लेता है। उसके परिवार के सदस्यों व उसके निकटस्थ मित्रों से अनुभव परिचय प्राप्त करता है। जीवनी लिखने के लिए व्यक्ति विशेष से सम्बन्धी तथ्यों को एकत्रित करना बहुत ही श्रम साध्य कार्य है। इन तथ्यों को संयोजित करके लेखन कार्य आरम्भ किया जाता है। नीरसता व शुष्कता से बचने के लिए तथा जीवनी को रोचक बनाने हेतु यथास्थान कल्पना का सहारा भी लिया जाता है। इसमें कथात्मक शैली का ही अधिक प्रयोग किया जाता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में जीवनी लेखक को निरपेक्ष और सापेक्ष दोनों रूपों में अपने दायित्वों का निर्वाह करना पड़ता है। जीवनी को किसी व्यक्ति का कोरा इतिहास कहना उचित नहीं है। जीवनी में विभिन्न पक्षों व पहलुओं–बचपन, परिवार, शिक्षा, वैयक्तिक विचारधारा, राजनीतिक व सामाजिक गतिविधियों तथा जीवन की प्रमुख घटनाओं का वर्णन भी रहता है। अतः जीवनी विवरण होते हुए भी इतिहास नहीं है। जीवनी लेखन में अतीत की स्मृतियों के साथ-साथ एक प्रेरणा भविष्य की भी होती है। सटीक जीवनी के लिए लेखक का तटस्थ एवं संतुलित दृष्टिकोण व्यक्ति विशेष के प्रति रहना आवश्यक है। जीवनी की सफलता इस बात पर निर्भर रहती है कि लेखक तथ्यों व सत्यों को ईमानदारी से प्रस्तुत कर पाया है या नहीं। अतः स्पष्ट है कि जीवनी गद्य साहित्य की महत्वपूर्ण विधा है।

'आवारा मसीहा' का हिन्दी जीवनी साहित्य में स्थान निश्चित करने के लिए हिन्दी जीवनी साहित्य दृष्टिपात करना पड़ेगा। हिन्दी जीवनी साहित्य का आरम्भ भारतेन्दु युग से माना जाता है। यद्यपि इससे पूर्व भी कुछ जीवनियाँ मिलती हैं। भारतेन्दु युग में भारतेन्दु के अतिरिक्त काशीनाथ खत्री, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त ने भी जीवनियाँ लिखी हैं। इस युग में पौराणिक, ऐतिहासिक महापुरुषों की ही जीवनियाँ लिखी गई हैं। कुछ विद्वानों ने कार्तिक प्रसाद खत्री द्वारा लिखित 'मीराबाई' (1899 ई.) को हिन्दी की प्रथम साहित्यिक जीवनी माना है। भारतेन्दु युग में लिखी गई जीवनियाँ तथ्यों पर आधारित रही हैं। उनमें जीवनी विधा के मूल तत्त्वों का अभाव रहा है, किन्तु यह आरम्भिक युग था। इसका यही महत्व है।

द्विवेदी युग में जो जीवनियाँ लिखी गईं उसमें प्रमुख समाज सुधारक श्री दयानंद सरस्वती पर लिखी गई जीवनियाँ ही प्रमुख हैं। द्विवेदी युग सुधारवादी युग था। इस युग में धार्मिक महापुरुषों पर ही अधिक जीवनियाँ लिखी गई थीं। मन्मथनाथ गुप्त कृत

'गुरु नानक', सुन्दर लाल कृत 'हजरत मुहम्मद', बलदेव उपाध्याय कृत 'शंकराचार्य' आदि प्रमुख हैं। इस युग में जीवनी विधा का परिष्कार हुआ। जीवनी लेखन की दृष्टि से द्विवेदी युग का महत्व निर्विवाद है। इस युग में गांधी जी से सम्बन्धित जीवनियों की अधिकता रही है। दादाभाई नौरोजी, मदनमोहन मालवीय, लोकमान्य तिलक, शिवाजी, पृथ्वीराज चौहान, गुरु गोबिन्द सिंह, रानी लक्ष्मीबाई से सम्बन्धित जीवनियाँ भी लिखी गई हैं। किन्तु इस काल तक की जीवनियाँ उस स्तर की नहीं रची गई जो आधुनिक जीवनी साहित्य में विशेष स्थान बना सकतीं।

छायावादी युग में यद्यपि काव्य की चकाचौंध रही है, किन्तु जीवनी साहित्य की रचना भी खूब हुई। इस युग में राष्ट्रीय नेताओं से सम्बन्धी जीवनियाँ ही अधिक रची गई हैं। साहित्यकारों का ध्यान प्रसिद्ध महापुरुषों तथा महान् महिलाओं के जीवन वृत्तों की ओर भी गया। राष्ट्रीय नेताओं में गांधी जी, जवाहर लाल नेहरू, लाला लाजपत राय, भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद आदि पर खूब जीविनयाँ लिखी गईं। वस्तुतः इस युग में जीवनी लेखन का प्रमुख लक्ष्य जनता में राष्ट्रीय चेतना जगाना था। इसलिए आदर्श, ओजस्विता, उद्‌बोधनात्मक आदि शैलियों का सफल प्रयोग किया गया। इनमें इतिवृत्तात्मकता मात्र न होकर विषय का आत्मीयतापूर्ण प्रतिपादन भी मिलता है।

छायावादोत्तर युग को जीवनी साहित्य का विकसित काल कहा जा सकता है। इस युग में महान् नेताओं के अतिरिक्त वैज्ञानिकों एवं खिलाड़ियों से सम्बन्धित जीवनियों की रचना भी हुई। महात्मा गांधी इस युग के सर्वाधिक प्रिय नेता थे। इसलिए उनके जीवन पर ही अधिक जीवनियाँ रची गईं। रोमा रोला द्वारा रचित महात्मा गांधी की जीवनी सर्वाधिक प्रसिद्ध हुई है। सन् 1947 में इसका हिंदी अनुवाद प्रकाशित हुआ। पंडित जवाहर लाल नेहरू तथा सुभाषचन्द्र बोस संबंधित जीवनियाँ लिखने में भी अनेक लेखकों ने अभिरुचि दिखाई। भगत सिंह पर लिखी जीवनियों में वीरेन्द्र सिंधु कृत शोधपूर्ण कृति 'युगदृष्टा भगत सिंह' और उसके मृत्युंजय पुरखे (1968) अत्यन्त महत्वपूर्ण है। श्री विश्वनाथ बैशपायन ने **'चन्द्रशेखर आजाद'** के नाम से जीवनी की रचना की। वे कई वर्षों तक उनके साथ रहे। वे उनके निजी सचिव होने के साथ-साथ उनके अंतरंग मित्र भी थे। इस युग में भी धार्मिक महापुरुषों की जीवनियों की रचना की जाती रही है।

आलोच्य युग में ऐतिहासिक महापुरुषों एवं योद्धाओं की जीवनियाँ भी प्रचुर मात्रा में रची गईं। इस युग में सर्वाधिक शिवाजी के जीवन पर जीवनियाँ लिखी गईं। इसके अतिरिक्त रानी लक्ष्मीबाई, तात्याँ टोपे, नाना फर्नाडवीस, नाना साहब, महाराजा रणजीत सिंह, गुरु गोविन्द सिंह, धर्मराज युधिष्ठिर को भी आधार बनाकर जीवनियों की रचना की गई है। इनके अतिरिक्त विदेशी महापुरुषों के जीवन को लेकर भी जीवनियाँ लिखी गई हैं।

स्वतन्त्रता के पश्चात् के युग में जीवनी लेखन की कला अपने प्रखर रूप में उभरकर सामने आई। इस युग में साहित्यकारों के जीवन को आधार बनाकर जीवनियों की रचना की गई। प्रेमचन्द की पत्नी शिवरानी ने 'प्रेमचंद घर में' शीर्षक से उनकी जीवनी की रचना की। उनकी यह जीवनी उनके बचपन से लेकर अन्तिम क्षण तक की घटनाओं को आधार बनाकर 88 उपशीर्षकों के अन्तर्गत लिखित है। इस जीवनी में शिवरानी ने पूरी ईमानदारी के साथ उनके जीवन की घटनाओं को प्रस्तुत किया है। उनके बेटे अमृतराय ने 'कलम का सिपाही' शीर्षक से प्रेमचंद की जीवनी लिखी है। इस जीवनी में उतनी तटस्थता व निरपेक्षता नहीं है, जितनी शिवरानी द्वारा रचित प्रेमचंद की जीवनी में है। सृजनकला की दृष्टि से 'कलम का सिपाही' भी एक उत्कृष्ट जीवनी है। प्रेमचन्द के अतिरिक्त कई साहित्यकारों ने सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की जीवनी भी लिखी है। इनमें गंगाप्रसाद पाण्डेय और रामविलास शर्मा कृत जीवनियाँ प्रसिद्ध हुई हैं। गंगाप्रसाद पाण्डेय की तुलना में रामविलास शर्मा कृत जीवनी शोधपरक है। उन्होंने उनके जीवन सम्बन्धी तथ्यों और घटनाओं की छान-बीन में अत्यधिक परिश्रम किया है।

कहना न होना जीवनी साहित्य में जिस सृजनात्मक स्थापत्य के दर्शन, अमृतराय और रामविलास शर्मा की जीवनियों में होते हैं, उसे आगे बढ़ाने में आचार्य चन्द्रशेखर शुक्ल कृत 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : जीवन और कृतित्व' (1963), शांति जोशी द्वारा रचित 'सुमित्रानन्दन पंत और उसका साहित्य', (1907 ई.), विष्णु प्रभाकर मिश्र द्वारा रचित 'आवारा मसीहा' (1974), राजकमल राम कृत 'शिखर से सागर तक' (1986) ही अत्यधिक उल्लेखनीय जीवनियाँ हैं।

चन्द्रशेखर शुक्ल आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के भतीजे थे, जो उनके समीप रहे थे। इसलिए उन्होंने शुक्ल जी के जीवन और कृतित्व को बहुत ही ईमानदारी से प्रस्तुत किया है। शांति जोशी कृत 'सुमित्रानंदन पंत : जीवन और साहित्य' में 1900-1940 तथा कालखण्ड की घटनाओं का वर्णन किया गया है। चरित नायक पंत जी की बहन होने के नाते उन्होंने उनके अन्तरंग जीवन को अत्यन्त ईमानदारी के साथ प्रस्तुत किया है।

बंगला उपन्यासकार शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय के जीवन को रूपायित करने वाली विष्णु प्रभाकर की कालजयी कृति 'आवारा मसीहा' आज तक प्रकाशित जीवनियों में श्रेष्ठ स्थान रखती है। इसमें ध्यान देने योग्य बात यह है कि विष्णु प्रभाकर जोशी, शिवानी, अमृतराय, चन्द्रशेखर शुक्ल की भांति चरित नायकों का संबंधी नहीं है और न ही रामविलास शर्मा की भांति चरित नायक के निकट सम्पर्क में ही रहे हैं। इसके अतिरिक्त बंगला भाषा में भी उनके जीवन पर कोई सामग्री उपलब्ध नहीं थी, किन्तु यह तो विष्णु प्रभाकर के अथक परिश्रम का परिणाम है। वस्तुतः अबंगला भाषी हिन्दी साहित्यकार द्वारा रचित अनुपम रचना है। यह प्रभाकर जी के लिए चुनौती भरा कार्य था, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया और शरतचन्द्र का ऐसा प्रमाणिक जीवनवृत्त प्रस्तुत किया है कि चरितनायक के प्रति लोगों के मन में व्याप्त किवंदंतियों का कुहासा पूर्णतः समाप्त हो गया। विष्णु प्रभाकर द्वारा रचित इस जीवनी की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि वे शरतचन्द्र के भावलोक तक पहुँचने में पूर्णतः सफल हुए हैं। यह सम्पूर्ण कृति मुख्यतः तीन शीर्षकों में विभाजित है—1. दिशा धारा, 2. दिशा की खोज, 3. दिशान्त। इन तीन शीर्षकों में विभाजित इस कृति में अनुपम कलात्मक अन्विति है। विभिन्न स्रोतों से खोजी हुई सामग्री को इस प्रकार नियोजित किया है कि कहीं भी किसी प्रकार का कोई पैबंद लगा हुआ प्रतीत नहीं होता। सम्पूर्ण कृति में घटनाओं को इस प्रकार रखा गया है कि पूरी कृति में एक प्रवाह बना रहता हैं।

निश्चय ही 'आवारा मसीहा' का हिन्दी जीवनी साहित्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। वह रचना ही ऐसी है, जिसकी प्रशंसा किये बिना पाठक से रहा नहीं जाता।

'आवारा मसीहा' हिन्दी के श्रेष्ठ जीवनीकार विष्णु प्रभाकर की उल्लेखनीय साहित्यिक रचना है। इसमें लेखक ने बंगाल के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार शरत् चन्द्र की सम्पूर्ण जीवनी का प्रमाणिक और सटीक वर्णन किया है। लेखक ने पूर्णतया तटस्थ रहकर शरत्चन्द्र के जीवन के कुछ ऐसे प्रसंगों का वर्णन किया है जो अनछुए कहे जा सकते हैं। यही कारण है कि इस जीवनी में चरित्र नायक की अच्छाइयों और बुराइयों का यथार्थ वर्णन देखने को मिलता है। रचना के आरम्भ से अन्त तक लेखक की तटस्थता और निष्पक्षता बनी रही है। इस सन्दर्भ में डॉ. गुलाबराय ने लिखा भी है—**''जीवनीकार को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि चन्द्रमा में कलंक है अवश्य किन्तु वह साधारण है। सहानुभूति अंध-भक्ति से जुड़ी है। अंध-भक्ति दोष को भी गुण समझती है। सहानुभूति दोष को दोष ही समझती है, किन्तु उसके कारण दोषी की हँसी नहीं उड़ाई जा सकती।''**

शरत् का जीवन कल्पनाओं, मिथ्याचारों, किंवदंतियों तथा भ्रान्तियों से आजीवन घिरा रहा। लेखक ने 14 वर्षों तक अथक परिश्रम करके 'आवारा मसीहा' नामक जीवनी की रचना की और शरत् के जीवन के यथार्थ को अनावृत्त करने का प्रयास किया। प्रभाकर जी ने चरित नायक के जीवन का लेखा-जोखा बड़ी प्रमाणिकता के साथ प्रस्तुत किया है। विशेषकर बालक शरत् की शैशव कालीन घटनाओं, शरारतों, उद्दण्डताओं आदि पर समुचित प्रकाश डाला है। इस जीवनी को पढ़कर पता चलता है कि शरत् के पिता यायावर प्रवृत्ति के कारण आजीवन अकर्मण्य बने रहे और पुत्र ने भी कुछ-कुछ पिता के चरणों का अनुसरण किया, लेकिन माँ अपने पुत्र से अत्यधिक स्नेह रखती थी। आगे चलकर शरत् जब एक प्रतिष्ठित साहित्यकार बन गए तो उन्होंने स्वतन्त्रता आंदोलन के क्रान्तिकारों का भरसक सहयोग दिया। यही नहीं उन्होंने साहित्य तथा संगीत प्रेमियों तथा सगे-सम्बन्धियों को भी आर्थिक सहायता प्रदान की। प्रस्तुत जीवनी की प्रमाणिकता और वैज्ञानिकता पर प्रकाश डालते हुए हिन्दी साहित्य के महान साहित्यकार, इतिहासकार **राहुल सांकृत्यायन** ने लिखा भी है—**''लेखक यदि किसी नायक की जीवनी लिखना चाहता है तो उसका कर्तव्य है कि जैसा उसे देखे वैसा ही वह पाठकों के सामने रख दे। जीवन चरित्र अन्दर और बाहर की भावनाओं का एक सेतु होता है जो विषय को जड़ता से बचाता है। इससे मानव की गरिमा, उसकी ख्याति को कोई हानि पहुँचा पाता है। लेखक को चाहिए कि वह अपने मन में केवल एक ही मूर्ति को प्रतिष्ठापित करे और उसी की पूजा-अर्चना करते हुए अन्य पात्रों के सामने लाकर बिठा दे। इसके विपरीत चलने वाला रचनाकार जीवन चरित्र लिखकर इतिहास की रचना करने वाला मान लिया जा सकता है।''**

वस्तुतः विष्णु प्रभाकर एक सोद्देश्य कलाकार हैं। उन्होंने अपनी प्रत्येक रचना के माध्यम से पाठकों को कोई-न-कोई सन्देश अवश्य दिया है। जहाँ तक आवारा मसीहा का प्रश्न है इसमें लेखक शरत् चन्द्र चट्टोपाध्याय के जीवन के रहस्यों का उद्घाटन बड़ी प्रमाणिकता के साथ किया गया है। इसके साथ लेखक ने तत्कालीन बंगाल की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक

तथा धार्मिक परिस्थितियों का भी प्रभावशाली वर्णन किया है। लेखक ने शरत् चन्द्र के जीवन के साथ-साथ उनकी रचनाओं में वर्णित समाज की कुरीतियों, जड़-परम्पराओं, अन्धविश्वासों तथा पाखण्डों का पर्दाफाश किया है। इस सन्दर्भ में डॉ. राजीव तिवारी उचित ही लिखते हैं—**''शरत् बाबू यथार्थवादी दृष्टिकोण को लेकर साहित्य के क्षेत्र में उतरे थे। अपने सभी उपन्यासों तथा कथाओं में उन्होंने सामाजिक कुरीतियों पर निर्मम कुठाराघात किया और साथ ही यह भी प्रयास किया कि लकीर का फकीर न बनकर कुछ लीक से हटकर लिखा जाए। उनके लेखन में एक ओर रूढ़िवादी समाज की ना-समझी व क्रूरता का चित्रण मिलता है, वहीं दूसरी ओर उनके नारी पात्र पीड़ित शोषित व लांछित प्रतीत होते हैं। नारी वर्ग के प्रति उनके मन में गहरी संवेदना थी और इसके प्रति वे विशेष संवेदनशील रहे भी।''**

इसके अतिरिक्त विष्णु प्रभाकर ने इस जीवनी के माध्यम से शरत् के आवारा मसीहापन को महिमा मण्डित किया है तथा साथ ही सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का भी यथार्थ चित्रण किया है। इस सन्दर्भ में एक आलोचक ने उचित ही लिखा है—**''आवारा मसीहा' का प्रमुख प्रतिपाद्य है-शरत्चन्द्र के आवारा मसीहापन को महिमा मण्डित करना तथा उनकी आकार के गर्त में छिपे जीवन का रहस्योद्घाटन करना तथा साथ ही बंगाल की सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का चित्रांकन करना। यही कारण है कि इस जीवनी में तत्कालीन बांगला समाज में व्याप्त रूढ़ियों, पाखण्डों, बाह्याडम्बरों तथा अन्धविश्वासों और विधवाओं-वेश्याओं की दयनीय स्थिति का अत्यन्त मार्मिक चित्रण हुआ है।''**

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि निश्चय ही 'आवारा मसीहा' का हिन्दी जीवनी साहित्य में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। वह रचना ही ऐसी है, जिसकी प्रशंसा किये बिना पाठक से रहा नहीं जाता।

◆◆◆

2. 'आवारा मसीहा' की रचना के प्रेरक तत्त्व

प्र. विष्णु प्रभाकर विरचित जीवनी 'आवारा मसीहा' की रचना के प्रेरक तत्त्व कौन-कौन से हैं? विस्तार से बताइए।

अथवा

विष्णु प्रभाकर द्वारा रचित 'आवारा मसीहा' की रचना के प्रेरक तत्त्वों पर प्रकाश डालिए। **(Most. Imp.)**

उत्तर–आवारा मसीहा की रचना के प्रेरक तत्त्व–किसी भी साहित्य की रचना के पीछे मूलतः दो तत्त्व होते हैं—**एक बाह्य प्रेरक तत्त्व, दूसरा अन्तः प्रेरक तत्त्व।** बाह्य प्रेरक तत्त्वों के अन्तर्गत समाज की माँग, प्रकाशकों का दबाव, आग्रह, धन व यश की प्राप्ति आदि प्रमुख होते हैं। किन्तु आन्तरिक तत्त्वों के अन्तर्गत रचनाकार की अपनी इच्छा व रुचि रहती है।

आलोच्य कृति 'आवारा मसीहा' रचना का जहाँ तक सम्बन्ध है, इसके पीछे दोनों प्रकार के प्रेरणा तत्त्व रहे हैं। विष्णु प्रभाकर स्वयं महान् साहित्यकार हैं और दूसरे साहित्यकारों से बहुत प्रभावित हैं। उन्होंने अनेक साहित्यकारों की जीवनी पढ़ी। किन्तु शरत् जैसे महान् साहित्यकार का जीवन लोगों की दृष्टि में या लोगों के सामने न आए, यह उन्हें स्वीकार नहीं था। इतना ही नहीं, उनके जीवन के विषय में लोग तरह-तरह के भ्रम फैलाए हुए थे। यहाँ तक कि उन पर कई तरह आरोप भी लगाए थे। इन सभी भ्रमों और आरोपों का निराकरण करना विष्णु प्रभाकर जी ने आवश्यक समझा, इसलिए उन्होंने उनकी जीवन-यात्रा, जीवन की प्रमुख घटनाओं व उनकी विचारधारा को उजागर करने का कार्य आरम्भ किया। विष्णु प्रभाकर जी ने अपने को विशिष्ट पहचान देने वाली इस जीवनी की रचना के लिए चौदह वर्षों का व्यापक समय अर्पित किया। उन्होंने इस रचना के बाह्य प्रेरक तत्त्वों का उल्लेख करते हुए लिखा है—**''कभी सोचा भी न था कि एक दिन मुझे अपराजेय कथाशिल्पी शरतचंद्र की जीवनी लिखनी पड़ेगी। यह मेरा विषय नहीं था। लेकिन अचानक एक ऐसे क्षेत्र में यह प्रस्ताव मेरे पास आया कि स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ा। हिन्दी ग्रंथ रत्नाकार, बंबई के स्वामी श्री नाथूराम प्रेमी ने शरत् साहित्य का प्रामाणिक अनुवाद हिन्दी में प्रकाशित किया है। उनकी इच्छा थी कि इसी माला में शरत्चंद्र की एक जीवनी भी प्रकाशित की जाए। उन्होंने इसकी चर्चा यशपाल से की और न जाने कैसे लेखक के रूप में मेरा नाम सामने आया। यशपाल जी के आग्रह पर मैंने एकदम ही यह काम अपने हाथ में ले लिया। ऐसा नहीं था लेकिन अंततः लेना पड़ा, यह सच है।''**

लेखक के इस कथन से स्पष्ट है कि उन पर इस रचना के पीछे प्रकाशक और अपने मित्रों के आग्रह का दबाव था और यह भी नहीं कहा जा सकता कि इसकी रचना के पीछे उनकी यह भावना न रही हो कि इसकी रचना के पश्चात् उन्हें केवल यश की प्राप्त होगी, अपितु धन की प्राप्ति भी होगी। जीवन अकेले यश के सहारे नहीं चल सकता।

'आवारा मसीहा' शीर्षक जीवनी का हिन्दी जीवनी साहित्य में जो श्रेष्ठ स्थान बना हुआ है, उसे देखते हुए यह नहीं कहा जा सका कि इसके प्रेरणा तत्त्व बाह्य ही रहे होंगे। चौदह वर्ष तक अथक परिश्रम करना अपने आप में एक बहुत बड़ी तपस्या व त्याग है। सच्चाई यह है कि 'आवारा मसीहा' जैसी महान् कृति की रचना केवल बाह्य प्रेरणा से नहीं हो सकती। इसके लिए लेखक की अपनी आन्तरिक इच्छा अथवा प्रेरणा भी रही है। यही कारण है कि उन्होंने इसे अपने जीवन के चौदह वर्षों की अथक खोज व परिश्रम के उपरान्त लिखा है। एक-एक तथ्य को प्राप्त करने के लिए न जाने कितने-कितने लोगों से कितनी-कितनी बार मिलना पड़ा था।

सम्भवतः अपने जीवन में विष्णु प्रभाकर शरतचन्द्र से कभी नहीं मिले, किन्तु उनका साहित्य अवश्य उन्होंने पढ़ा था। अतः जब उनके पास इस महान् कथा शिल्पी की जीवनी लिखने का प्रस्ताव आया, तो स्वतः ही उनकी आन्तरिक प्रेरणा ने प्रस्फुटित होकर उनसे जीवनी लिखने का आग्रह कर डाला। उन्होंने इस विषय में लिखा है–"इसका मुख्य कारण था शरत्चन्द्र के प्रति मेरी अनुरक्ति। उनके साहित्य को पढ़कर उनके जीवन के बारे में विशेषकर श्रीकांत और राजलक्ष्मी के बारे में जानने की उत्कंठ इच्छा कई बार हुई। शायद वह इच्छा पूरी होने का यह अवसर था।"

वस्तुतः आन्तरिक प्रेरणा किसी भी कृति की रचना के लिए लेखक को संघर्ष करने, विषय से सम्बन्धित खोज व अनुसंधान करने, विभिन्न संबंधित लोगों से मिलने के लिए विभिन्न स्थानों पर जाने को मजबूर करती है। आलोच्य कृति की रचना के पीछे भी अपनी आन्तरिक प्रेरणा के वशीभूत होकर ही प्रभाकर जी ने अत्यधिक परिश्रम किया। इस रचना की पूर्ण सामग्री को उन्होंने तीन विभिन्न स्रोतों के द्वारा एकत्र किया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं लिखा है–**"इस पुस्तक की सामग्री के तीन स्रोत रहे हैं–एक तो उन व्यक्तियों से साक्षात्कार जो किसी-न-किसी रूप में शरत् बाबू से सम्बन्धित रहे। दूसरे उनके समकालीन मित्रों के लेख-संस्मरण और तीसरे उनकी अपनी रचनाओं के इधर-उधर बिखरे वे स्थल और प्रसंग जिनका उनके जीवन से सीधा संबंध रहा। इतने अनुभव के बाद उन्हें ढूँढ़ लेना बहुत कठिन नहीं हुआ।"**

इस कथन में उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि इतने अनुभव के बाद उन्हें ढूँढ़ लेना बहुत कठिन नहीं हुआ। किन्तु 'इतना अनुभव' सरलता से प्राप्त नहीं होता। इस अनुभव की प्राप्ति हेतु उन्होंने आन्तरिक प्रेरणा के वशीभूत होकर जी-तोड़ मेहनत की, अनेक कठिनाइयों का सहर्ष सामना किया। कितने अनजान एवं बांगला भाषी लोगों से मिले थे। आरम्भ में इस कार्य को जितना आसान समझ रहे थे, उतना आसान कार्य नहीं था। इस विषय में उन्होंने स्वयं लिखा है–**"सोचा, बंगला साहित्य में निश्चय ही उनकी अनेक प्रामाणिक जीवनियाँ प्रकाशित हुई होंगी। लेख-संस्मरण तो न जाने कितने लिखे गए होंगे। वही से सामग्री लेकर यह छोटी-सी जीवनी लिखी जा सकेगी। लेकिन खोज करने पर पता लगा कि प्रामाणिक तो क्या, सही अर्थों में जिसे जीवनी कह सकें वैसी कोई पुस्तक बंगला भाषा में नहीं है। उनके जीवन की कल्पित कहानी को जीवनी का रूप देकर अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, पर उनमें शरत बाबू का वास्तविक रूप तो क्या प्रकट होगा वह और भी जटिल हो उठा है।"** इसी प्रकार आगे वह पुनः लिखते हैं, **"अब मैंने इधर-उधर खोज आरंभ की, लेकिन जैसे-जैसे आगे बढ़ता गया, उलझता ही गया। ढूँढ़-ढूँढ़कर मैं उनके समकालीन व्यक्तियों से मिला। बिहार, बंगाल, बर्मा सभी जगह गया। लेकिन कहीं भी तो, कुछ भी उत्साहजनक स्थिति नहीं दिखाई दी।"**

लेखक के इस कथन से स्पष्ट है कि किसी कृति की रचना का मार्ग इतनी कठिनाइयों से भरा हो अथवा इतना संघर्ष या परिश्रम तथा इतनी कठिन यात्रा करनी हो तो यह केवल बाह्य तत्त्व के बलबूते पर नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में लेखक प्रायः रचना लिखने से मुंह मोड़ लेते हैं और शांतिपूर्वक घर जा बैठते हैं। किन्तु यह आन्तरिक प्रेरक तत्त्व ही रचनाकार के उत्साह को ठंडा नहीं पढ़ने देता, अपितु उसे बार-बार संघर्ष करने व कठिनाइयों से टकराने की प्रेरणा देता है।

यह आन्तरिक प्रेरणा तत्त्व ही है जो लेखक को निराशाजनक क्षणों से बचाता है। शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय के जीवन की खोज करते हुए जब विष्णु प्रभाकर जी के सामने तथ्यहीनता की स्थिति प्रकट हुई तथा सम्बन्धित लोगों से भी पर्याप्त

जानकारी प्राप्त नहीं हुई, उस विकट स्थिति में भी उनकी आन्तरिक प्रेरणा ने उन्हें निराश व हतोत्साहित नहीं होने दिया। एक स्थल पर प्रभाकर जी ने लिखा है–**"प्रायः सभी मित्रों ने मुझसे कहा, 'तुम शरत् की जीवनी नहीं लिख सकते। अपनी भूमिका में यह बात स्पष्ट कर देना कि शरत् की जीवनी लिखना असंभव है।'** ऐसे भी व्यक्ति थे जिन्होंने कहा, **'छोड़ो भी, क्या था उसके जीवन में जो तुम पाठकों को देना चाहोगे। नितांत स्वच्छंद व्यक्ति का जीवन क्या किसी के लिए अनुकरणीय हो सकता है?' कुछ ने कहा, 'उनके बारे में जो कुछ हम जानते हैं, वह हमारे बीच में ही रहे। दूसरे लोग उसे जानकर क्या करेंगे? रहने दो, उसे लेकर क्या होगा?' "**

अपने मित्रों के ऐसे कथनों को सुनकर कोई भी व्यक्ति अपना इरादा बदलकर आराम से जीवन व्यतीत करने की सोचता है। किन्तु विष्णु प्रभाकर की अपनी आन्तरिक प्रेरणा ने लोगों की निराशजनक बातों पर ध्यान न देने की प्रेरणा दी और अपने महान कार्य में रुचिपूर्वक कार्य करते रहे। उन्होंने अपनी अन्तः प्रेरणा शक्ति के बल पर अपना मार्ग स्वयं बनाया और शरत्चन्द्र जी के जीवन से सम्बन्धित तथ्यों को चौदह वर्ष की लम्बी अवधि के कठिन परिश्रम द्वारा एकत्रित करने में से सफलता प्राप्त की। अतः उन्होंने अपने अथक परिश्रम से कालजयी जीवनी की रचना की। इस जीवनी के कारण ही विष्णु प्रभाकर का नाम जीवनी लेखक के रूप में सदा आदर से याद किया जाएगा।

अतः स्पष्ट है कि 'आवारा मसीहा' शीर्षक जीवनी की रचना के पीछे बाह्य व आन्तरिक दोनों प्रकार के तत्त्वों ने उन्हें प्रेरणा प्रदान की है, किन्तु इस महान रचना के पीछे उनकी आन्तरिक प्रेरणा ही सदा अधिक प्रबल रही है।

◆◆◆

3. 'आवारा मसीहा' में चित्रित शरतचन्द्र का व्यक्तित्व वैशिष्ट्य

3. विष्णु प्रभाकर विरचित जीवनी 'आवारा मसीहा' में शरतचन्द्र का जो व्यक्तित्व वैशिष्ट्य उभरकर सामने आया है, उसे स्पष्ट करें। (Most. Imp.)

अथवा

'आवारा मसीहा' में चित्रित शरतचन्द्र का व्यक्तित्व वैशिष्ट्य अपने शब्दों में लिखो।

अथवा

'आवारा मसीहा' के कथा-नायक शरतचन्द्र की चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन कीजिए।

उत्तर–शरतचन्द्र का व्यक्तित्व वैशिष्ट्य–'आवारा मसीहा' श्री विष्णु प्रभाकर की उल्लेखनीय जीवनी है। इसके चरित्त नायक बांग्ला साहित्य के प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री शरत् चन्द्र हैं। उन्होंने अपने कथानायक के अन्दर और बाह्य दोनों रूपों का कलात्मक ढंग से चित्रण किया है। प्रभाकर जी ने बड़ी निष्पक्षता और तटस्थता का निर्वाह करते हुए चरित्र नायक के गुणों तथा अवगुणों का यथार्थ वर्णन प्रस्तुत किया है। इस सन्दर्भ में लेखक ने शरत् के जीवन के अनछुए प्रसंगों का भी रहस्य उद्घाटन किया है। शरत् बाबू घुमक्कड़ और यायावर प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। उन्हें ये प्रवृत्ति अपने पिता मोतीलाल से प्राप्त हुई थी। बचपन में उन्हें पशु-पक्षी पालने, उपवन लगाने और विभिन्न रंगों की तितलियाँ पालने का बड़ा शौक था। पतंग उड़ाना, लट्टू घुमाना, गुली-डण्डा खेलना आदि उनके प्रिय खेल थे। बाग में फल चुराने की कला में वे नितान्त प्रवीण थे। यदि उनकी चोरी कभी पकड़ी भी जाती तो वे प्रसन्नतापूर्वक दण्ड ग्रहण कर लेते थे। सच्चाई तो यह है कि उनका व्यक्तित्व आरंभ से ही असाधारण था। प्रभाकर जी ने उनके चरित्र पर प्रकाश डालते हुए लिखा है–**"वह खिलाड़ी था, विद्रोही भी उसे कह सकते हैं पर बदमाश वह किसी भी दृष्टि से नहीं था। पिता की तरह उसमें भी प्रचुर मात्रा में सौन्दर्य बोध था। पढ़ने के कमरे को खूब सजाकर रखता। चौकी और उस पर एक सुन्दर सी तिपाई, एक बन्द डेस्क और उसमें पुस्तकें, कॉपियाँ, कलम-दवात इत्यादि। उसकी पुस्तकें झक-झक करती थीं। कॉपियाँ कलम-दवात इत्यादि वह स्वयं करीने से काटकर ऐसे तैयार करता था कि देखते ही बनता था।"** वस्तुतः शरत् के जीवन चरित्र में हमें अनुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ देखने को मिल जाती हैं। वह यदि उद्दण्ड और शरारती था तो पढ़ने-लिखने का शौकीन भी था। खेलने में उसकी बड़ी रुचि थी, परन्तु स्वभाव से अपरिगृही था। उसके चरित्र की विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

शरतचंद्र का व्यक्तित्व वैशिष्ट्य

↓

1. व्यक्तिगत परिचय

↓

2. शरारती, उद्दंड परन्तु उदार

↓

3. सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार

↓

4. परोपकारी और दयालु

↓

5. कुशाग्र बुद्धि तथा प्रतिभा संपन्न

↓

6. निर्भीक और स्पष्ट वक्ता

↓

7. संवेदनशील व्यक्ति

↓

8. सच्चा देश भक्त

1. व्यक्तिगत परिचय–शरत् का व्यक्तित्व इतना आकर्षक नहीं था। उसका शरीर बड़ा दुर्बल और बीमारियों से ग्रस्त था। उनके व्यक्तिगत परिचय पर प्रकाश डालते हुए प्रभाकर जी लिखते हैं–**"शरत् सुन्दर नहीं था। आँखों को छोड़कर उसमें कोई विशेषता नहीं थी, लेकिन आँखों की चमक ही सामने वाले को बाँध लेती थी। वर्ण श्यामता की ओर था और देह थी खूब रोगी लेकिन पैर हिरन की तरह दौड़ने में मज़बूत थे। बिल्ली की तरह पेड़ों पर चढ़ जाता था। बुद्धि भी तीक्ष्ण थी, लेकिन दिशा हीन कठोर अनुशासन के कारण उसका प्रयोग पथ भ्रष्टता में ही अधिक होता था।"** शरत् बाबू बपचन से ही परोपकारी व्यक्ति था, लेकिन दुःसाहसी होने के कारण वह छोटी-मोटी लूटमार भी कर लेता था। दुर्बल शरीर होने के कारण वह चलते-चलते थक जाता था। उनकी बाल्यावस्था घोर दरिद्रता में गुज़री, लेकिन उसके पास साधारण स्मरण शक्ति भी थी। संगीत और अभिनय का उसे पूरा ज्ञान था। बंदूक चलाने का भी उसने खूब अभ्यास कर लिया था। द्वितीय पर्व में प्रभाकर जी उनके व्यक्तित्व का चित्रण करते हुए लिखते हैं–**'शरत् अपने रिश्ते के मौसा अघोरनाथ चटर्जी के घर पहुँचा तो उसका रथ देखते ही बनता था, जैसे कोई भिखारी हो। बिखरे बाल, मैले कपड़े, शरीर पर एक फटी कमीज, पैर में एक जोड़ा चट्टी, कन्धे पर गमछा इतने दिन तक हाथ से पकाकर खाना पड़ा था। इससे अवस्था और भी दयनीय हो रही थी।"** एक अन्य स्थल पर लेखक लिखता है–**"गृह दाह के बाद वह कलकत्ता आया। साथ में पत्नी थी और था उसका प्यारा कुत्ता। अब वह कुत्ता लिए कलकत्ता की सड़कों पर प्रकट रूप में घूमता था। छोटी दाढ़ी, सिर पर अस्त व्यस्त बाल, मोटी धोती, पैरों में चट्टी, बदन पर चाइना कोट, कोई भी देखकर बता सकता था कि यह व्यक्ति शहरी नहीं है।"** यमुना के कार्यालय में शरत् बाबू की हणी बाबू तथा देवेन्द्र से मुलाकात हुई थी। उस समय लेखक ने उनके व्यक्तित्व का वर्णन देते हुए लिखा हैं–**"नितान्त साधारण चेहरे, साधारण दुबली-पतली एक बदसूरत देशी कुत्ते के बच्चे को साथ लिए उसके सामने खड़ा है। सिर पर बड़े हुए सूखे बाल हैं। दाढ़ी छोटी और पतली है, कपड़े अधमैले हैं।"**

भले ही आरम्भ में शरत् बाबू एक दुबला-पतला और कमजोर शरीर का धनी था, लेकिन जब वह आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हो गया तो उनकी वेश-भूषा और रहन-सहन में बड़ा भारी अतंर आ गया। अब वह पहले वाले अभाव ग्रस्त शरत् नहीं रहे थे। इस सदंर्भ में प्रभाकर जी लिखते भी हैं–**''यह परिवर्तन केवल जूतों की खरीद तक ही सीमित नहीं था। उनके सारे रूप-रंग और पहनावे में अन्तर आ चुका था। अब वे साज-सज्जा से पहले के देहाती शरत् नहीं रह गए थे, जब कपड़ों के प्रति वे अत्यन्त लापरवाह**

थे। बाल रुखे, कुर्ते में बटन नहीं, कन्धे की चादर भी मैली, बाँस की डण्डी वाला छाता और पैरो में फटे जूते। अब तो चहे स्निग्धता आ गई थी। **पहनते थे डबल ब्रेस्ट की चमकदार कमीज, दामी सर्ज का कोट, धुली हुई शान्तिपुरी धोती, पैरों में मोजे, फीते वाले जूते, हाथ में चाँदी की मूठ की छड़ी, आँखों पर सुनहरी फ्रेम का चश्मा और चेहरे पर दाढ़ी।"**

2. शरारती, उद्दंड परन्तु उदार–शरत् बाबू बचपन में बड़े ही शरारती और उद्दण्ड थे, लेकिन उनमें करुणा और दया भी थी। पढ़ाई के समय भी वे शरारत करने से बाज नहीं आते थे। एक बार उन्होंने झूठ बोल कर अपने नाना को पाण्डेय जी बीमारी का हाल-चाल पूछने के लिए भेज दिया। उनके जाते ही शरत् ने कहा–**'कैट इज आउट, लेट माऊस प्ले'**। भले ही अ शरारतों के लिए उन्हें अपने पीठ पर चाबुक खाने पड़ते थे, अस्तबल में बंद होना पड़ता था, लेकिन इन बातों का उन पर क प्रभाव नहीं पड़ता था। स्कूल में पढ़ते समय भी वे तरह-तरह की शरारतें करते रहे। कभी स्कूल की घड़ी को आगे कर देते अ कभी भोलू को चूने के ढेर में धक्का देकर भाग जाते। यही नहीं वह पाण्डेय जी की चिलम में से तम्बाकू हटाकर उसके स्थ पर ईंट के छोटे-छोटे टुकड़े रख देते थे। पाण्डेय जी अकसर उनके घर में उनकी शिकायत लेकर जाते थे, लेकिन ये सब होने भी उसके मन में दया और करुणा की भावना थी। वह दिनभर में जितनी भी गोलियाँ और लट्टू जीतते, संध्या के समय सब छो बच्चों में बाँट देते। वह दूसरे के बागों से फल-फूल चुराकर लाते और अपने मित्रों तथा गरीबों में बाँट देते। उन्होंने समाज क कभी परवाह नहीं की। उन्होंने विधवा दुर्गा देवी से विवाह कर समाज की परम्परा को तोड़ा। मोक्षदा को संरक्षण प्रदान किया परिवार तथा गाँव वालों के मना करने पर भी बत्तीस वर्षीय बीमार नीरू दीदी की देखभाल की। लेखक उनकी दयालुता के बा में लिखता भी है–**"शरत् को भी ये आज्ञा थी कि वह वहाँ न जाएँ, लेकिन क्या उसने कभी कोई आज्ञा मानी थी। रात के सम वह उसे देखने जाता। उसके हाथ-पैर सहला देता। कहीं से एक-दो फल लाकर खिला देता।"** पशु-पक्षियों के प्रति भी उसे अपा स्नेह था। कुत्ते के निधन पर वह उसे नदी के तट पर दाह-संस्कार के लिए ले गया। वस्तुतः शरत् बाबू बड़े-ही उदार प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। गरीबों तथा अभावग्रस्तों की सहायता करना उनका स्वभाव था। अपने गरीब मित्र परमथनाथ की सहायता करने के लिए अपने मित्र 'कशीनाथ' का स्वत्वा अधिकार उसे दे दिया। इससे यह स्पष्ट होता है कि शरत् बाबू शरारती और उद्दण्ड होने के बावजूद एक उदार हृदयी व्यक्ति थे।

3. सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार–शरत्चन्द्र बांग्ला साहित्य के सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार थे। वे बचपन से ही गल्प गढ़कर सुनाने में माहिर थे। 15 वर्ष की आयु तक आते-आते वे इस कला में प्रवीण हो गए थे। स्थानीय जमींदार के पुत्र अतुलचन्द्र कभी-कभी उसे थियेटर दिखाने के लिए कलकत्ता ले जाते और उसकी कहानी लिखने के लिए कहते और वह इतनी सुन्दर कहानी लिखता कि जमींदार का पुत्र हैरान हो जाता। उसके पिता की टूटी अलमारी में हरिदास की गुण बातें और भवानी पाठ-पुस्तकें रखी हुई थीं। इन्हीं को पढ़कर उसे कहानी लिखने की प्रेरणा मिली। अल्प काल में उसने बासा, बोझा, कोरेलग्राम, अनुपमा का प्रेम, काशीनाथ, चन्द्रनाथ, देवदास आदि रचनाओं को पढ़ डाला। आगे चलकर उन्होंने 'अभिमान' के नाम से हेनरी-वुड के उपन्यास 'ईस्टलीन' का अनुवाद किया। धीरे-धीरे शरत् चन्द्र की ख्याति फैलने लगी, लेकिन वे अपनी ख्याति से बड़े ही कतराते रहते थे। इस संदर्भ में इलाचन्द्र जोशी लिखते भी हैं– **"ऐसा जान पड़ता है कि साहित्य समाज में अपरिचित और अज्ञान बने रहने में उसे एक विचित्र प्रकार के सुख का अनुभव होता था। उसके अन्तर में कुछ ऐसी ग्रथियाँ थीं कि जिनके कारण वह अपने जीवनकाल में ख्याति का सामना करने से कतराता था और लिखता इसलिए चला जाता था कि उसकी मृत्यु के बाद उनका प्रकाशन हो। तब एक स्वर्गीय लेखक की रचनाओं के भीतर से बोलने वाली महान आत्मा समस्त लेखकों पर हावी हो जाए।"** उस समय बहुत कम लोगों को पता था कि शरत् चन्द्र एक श्रेष्ठ साहित्यकार हैं। एक निबंध से उनकी विद्वता का ज्ञान हुआ। वे अकसर गोष्ठियों में कविता-कहानी तथा प्रबन्ध पढ़ने के लिए जाते थे, लेकिन उनकी आलोचना सबसे अलग प्रकार की होती थी। शरत् द्वारा लिखे गए नारी इतिहास के बारे में प्रभाकर जी ने लिखा है–**"राशि-राशि कोटशनों से भरे हुए उस निबंध को पढ़ने में योगेन्द्र को पूरे दो घण्टे लगे, लेकिन जब वह निबन्ध पूर्ण हुआ तो सभा स्तब्ध थी। भाषा ऐसी सलिल, शैली ऐसी मोहक, विषयवस्तु का निरूपण ऐसा सहज और तर्क सम्मत, ऐसा मौलिक और गंभीर कि सबने मुक्त कण्ठ से उसकी प्रशंसा की।** बिन्दों का लल्ला, परिणीता, पण्डित जी, विराज बहू, निष्कृति, अन्धेरा और प्रकाश, मंझली दीदी, दर्प चूर्ण आदि शरत्चन्द्र की पुरानी रचनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि वे एक श्रेष्ठ साहित्यकार हैं। इसके बाद शरत् के जीवन का स्वर्ण युग आरंभ हुआ और उसकी रचनाएँ बंगाल के पाठकों में अत्यधिक लोकप्रिय हो गईं। श्रीकांत, देवदास, गल्प संग्रह, छवि, गृहदाह, बामन की बेटी आदि पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। प्रभाकर जी उनके साहित्यिक जीवन के बारे में लिखते भी हैं–**"मेरे साहित्यिक जीवन के चार पर्व हैं। प्रथम पर्व में मैंने 'बड़ी दीदी' और 'देवदास' आदि लिखे। वह युग था यौवन के उच्छवास और भीषण भावुकता का। दूसरे पर्व में असंयत भीषण**

भावुकता संयत संवदेन में बदल जाती है। 'परिणीता', 'रामेर सुमति', 'चरित्रहीन', 'श्रीकान्त' आदि उनकी रचनाएँ जीवन की अनुभूति से परिव्याप्त हैं। तीसरे पर्व में कला प्रौढ़ हो चुकी है। 'दत्ता' और 'गृहदाह' जैसी कृतियाँ इसी युग की देन हैं। अन्तिम पर्व में मानों वे नवयुग की चुनौती स्वीकार करते हैं। उनमें शक्ति हैं, विचार भी उनके पास हैं, पर इस काल की रचनाओं में अनुभूति की सहजता नहीं है। है विचारों की सायासता, जो कला (काल की रचनाओं) को पीछे धकेल कर प्रमुख हो उठी है। 'पथेर दाबी' और 'शेष प्रश्न' इसी पर्व की रचनाएँ हैं।

4. परोपकारी और दयालु–शरत् बाबू के चरित्र की एक अन्य विशेषता यह है कि वे बड़े ही परोपकार और दयालु व्यक्ति थे। वे दूसरे लोगों के बगीचों से फल-फूल चुराकर अपने मित्रों और गरीबों में बांट देते थे। आगे चलकर अनेक निर्धन व्यक्ति उनकी लूट पर पलने लगे। यही कारण है कि प्रभाकर जी ने उनकी तुलना रोबिनहुड से की है। अपनी परोपकारी वृत्ति के कारण ही वह मना किए जाने पर भी बाल-विधवा नीरू की देखभाल करने और उसके हाथ-पैर सहलाने के लिए चले जाते थे। राजू के साथ मिलकर उन्होंने अनेक शवों का दाह-संस्कार किया। गाँव से जाने के बाद तो उनके जीवन में बड़ा भारी परिवर्तन आ गया। वे अपने शोषित पड़ोसियों की सेवा करने के लिए हमेशा तैयार रहते थे। रंगून में प्लेग फैल जाने पर उन्होंने न जाने कितने रोगियों को दवा देकर उनकी जान बचाई और कुछ रोगियों ने तो उनकी गोद में ही अपने अंतिम सांस छोड़े। वे न केवल उन्हें दवाई देते, बल्कि उनके लिए डॉक्टर का इंतजाम भी करते और अपनी जेब से पैसे देकर रोगी के हाथ से फीस दिलवाते। विष्णु प्रभाकर ने शरत् की परोपकारिता तथा करुण-भावना का इस प्रकार वर्णन किया है–**"देखते क्या हैं, घर में चारों ओर अनेक धोतियाँ और साड़ियाँ बिखरी पड़ी हैं। नौकर उन्हें बांधने की चेष्टा कर रहा है और उनके बीच में कुर्सी पर बैठे हुए शरत्चन्द्र इकन्नी, दुअन्नी और चवन्नी गिन-गिनकर मेज पर ढेरियाँ लगा रहे हैं। चकित सेन बाबू ने पूछा "यह क्या हो रहा है शरत् ?"** शरत् ने उत्तर दिया **'दादा, दस बजे की गाड़ी से दादी के घर जा रहा हूँ।"** सेन महोदय ने कहा, **"जान पड़ता है वहाँ कोई व्रत-प्रतिष्ठा है। इसलिए इतने कपड़े और इतनी खरीज लिए जा रहा हो।"** शरत् बाबू ने उत्तर दिया, **"नहीं दादा, दादी के घर व्रत प्रतिष्ठा नहीं है।"** सेन महोदय ने पूछा, **"व्रत-प्रतिष्ठा नहीं है तो यह सब सामान किस लिए ले जा रहे हो?"** शरत् बाबू ने उदास मन से कहा, **"दादा दीदी के गाँव में और उसके चारों ओर गरीबों की क्या दशा है। यह जो .... इतना कहकर वे चुप हो गए कण्ठावरोध हो आया और आंखें से जल गिरने लगा।**

इस प्रकार हम देखते हैं कि शरत् बाबू बड़े ही परोपकारी, दयालु और करुण-भावना से परिपूर्ण व्यक्ति थे। वे आजीवन शोषितों, गरीबों, विधवाओं तथा वेश्याओं की सहायता करते रहे।

5. कुशाग्र बुद्धि तथा प्रतिभा संपन्न–शरत् बाबू के पास कुशाग्र बुद्धि थी। उनकी बुद्धि के बारे में प्रभाकर जी लिखते भी हैं–**"उसको समझने और आस-पास के वातावंरण का सूक्ष्म अध्ययन करने की सहज प्रतिभा भी उसमें थी। वह हर वस्तु को करीब से देखता था।"** यही कारण है कि उन्होंने अपने प्रत्येक उपन्यांस में सजीव वातावरण का चित्रण किया है। वे प्रत्येक पात्र के शारीरिक और मानसिक रूप-रेखा का यथार्थ वर्णन प्रस्तुत करते हैं। एक स्थल पर वे लिखते भी हैं– **"मास्टर मुशाई इस नारी का स्वामी अन्धा था। लोगों के घरों में कामकाज करके यह उसको खिलाती थी। कल रात इसका वह अन्धा स्वामी मर गया। वह बहुत दुखी है। दुखी लोग बड़े आदमियों की तरह दिखाने के लिए जोर-जोर से नहीं रोते। उनका रोना दुःख से विदीर्ण प्राणों का क्रन्दन होता है। मास्टर मुशाई, यह सचमुच का रोना है।**

वस्तुतः शरत् बाबू बचपन से ही असाधारण प्रतिभा के स्वामी थे। मास्टर के मित्र ने उसके बारे में कहा था कि जो रूदन के विभिन्न रूपों को पहचानता है वह साधारण बालक नहीं है। बड़ा होकर वह प्रसिद्ध होगा। शरत् के पास न केवल कुशाग्र बुद्धि थी बल्कि अद्वितीय स्मरण-शक्ति भी थी। वह जो कुछ एक बार देख लेता था उसे हमेशा के लिए याद कर लेता था। शरत् और राजू की मित्रता का यही कारण था कि शरत् एक कुशाग्र बुद्धि संपन्न था। इसके बारे में लेखक लिखता भी है–**"शरत् की स्थिर दीर्घ और शांत बुद्धि अभिभावकों के दुर्ग की मोटी दीवारों को लांघ कर उसे चकित करती रहती थी और वह उससे मित्रता करने के लिए आतुर हो उठता था।'** शरत् के अध्यापक भी उसकी कुशाग्र बुद्धि और स्मरण-शक्ति का लोहा मान चुके थे। यही कारण है कि बालक शरत् अपने मामाओं को पढ़ाने के बाद ही स्वयं पढ़ता था।

अपनी कुशाग्र बुद्धि पर प्रतिभा के कारण ही शरत् बाबू ने बांग्ला साहित्य को अपने उपन्यासों के द्वारा ही समृद्ध किया। उनके प्रत्येक उपन्यास का कथानक अलग प्रकार का है और सभी उपन्यासों के पात्र भी अलग-अलग प्रकार के हैं। अपनी कुशाग्र बुद्धि और प्रतिभा के बल पर ही वह सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों की रचना कर पाए।

6. निर्भीक और स्पष्ट वक्ता—शरत् बाबू अपनी निर्भीकता और स्पष्ट वक्तव्य के लिए प्रसिद्ध थे। बचपन से ही वे निर्भीक प्रवृत्ति के बालक थे। वे यदि चोरी करते हुए पकड़े जाते थे तो सजा भोगने के लिए भी तैयार रहते थे। वे कभी-भी किसी से नहीं डरे। जो कुछ कहा और किया वह सब खुले में किया। एक बार वे हुक्का पी रहे थे। तब नीरू ने उससे कहा कि वह उसकी माँ से उसकी शिकायत करेगी। इस पर बालक शरत् ने स्पष्ट कहा—**'कह दे, जा मर।'** यही नहीं वह अकसर पिता के द्वारा संचित किए गए पत्रों को निकाल लेते थे। जब पिता पूछते—"छोरा, तन पथ्थर लिए?" शरत् निर्भीक होकर उत्तर देते—**"हाँ लिए हैं।"** फिर पिता कहते-**क्यों लिए हैं?"** फिर शरत् उत्तर देते हुआ कहते—**"क्योंकि मुझे पैसों की जरूरत थी और वे पथ्थर किसी काम नहीं आ रहे थे।"** उन्हीं दिनों बंगाल के सुप्रसिद्ध कवि सत्येन्द्रनाथ दत्त का निधन हो गया। शोक सभा में अनेक विद्वानों ने अपने-अपने विचार प्रकट किए। इस अवसर पर शरत् चन्द्र ने बड़ी निर्भीकता के साथ स्पष्ट कहा—**"आज हम लोगों ने आविष्कार किया है कि सत्येन्द्र कितने प्रिय कवि थे। आज उनके लिए जगह-जगह साहित्यिक सभाएँ हो रही हैं, पर जब वे जीवित थे तब कभी किसी सभा के संयोजक को इतना तक न सूझा कि सत्येन्द्र किसी भी साहित्य सभा के अध्यक्ष होने की योग्यता रखते हैं। बड़ी कठिनता से वे इतने शब्द कह सके थे, लेकिन ऐसे अवसर पर भी वे स्पष्टवादिता से बाज नहीं आए। सत्य के प्रति उनकी यह निर्भीकता उन्हें अच्छा लेखक ही नहीं, अच्छा मनुष्य भी प्रमाणित करती है।"** इतना ही नहीं शरत् का गांधी जी के साथ निम्न संवाद भी उनकी निर्भीकता का वर्णन करता है—

'शरत् चन्द्र बोले, मन्दिर के जो जितना पास होता है भगवान से उतना ही दूर होता है।'

महात्मा जी ने कहा, शरत् बाबू आपकी चरखे में श्रद्धा नहीं है।

नहीं, रत्ती भर नहीं।

महात्मा जी ने कहा, लेकिन कातते तो आप चरखे के अनेक प्रेमियों से अच्छा हैं।

शरत् बोले—**"मैं चरखे को नहीं, आपको प्यार करता हूँ। मैंने चरखे कातना इसलिए सीखा है।"**

महात्मा जी हँस पड़े। बोले, "लेकिन आप इस बात में विश्वास नहीं करते कि कातने से स्वराज्य-प्राप्त में सहायता मिलेगी।' शरत् चन्द्र ने हँसते हुए कहा **"जी नहीं मैं विश्वास नहीं करता। मेरे विचार में स्वराज्य प्राप्ति में सिपाही ही सहायक हो सकते हैं, चरखे नहीं।"**

7. संवेदनशील व्यक्ति—प्रस्तुत जीवनी में विष्णु प्रभाकर ने स्पष्ट किया है कि शरत् बाबू की रचनाओं में दीन-दलीत, पीड़ित, शोषित तथा उपेक्षित नारियों के प्रति लेखक ने आत्मीयता और सहानुभूति को व्यक्त किया हैं। वस्तुतः शरत् का जीवन आजीवन दूसरों को समर्पित रहा। उनकी कथनी करनी में लेश मात्र भी अंतर नहीं था। वास्तविक जीवन में वे विधवाओं और वेश्याओं तथा शोषितों और तिरस्कृतों की हमेशा सहायता करते थे। इस संदर्भ में डॉ. उदयवीर सक्सेना लिखते भी हैं—**"मानवीय संवदेनाओं और महिला-चरित्रों का जो चित्रण उनकी लेखनी करती है वह सबसे अलग है। आँसुओं से भरी सहज घटनाएँ निश्चल प्रेम-चित्रण शरत् चन्द्र की अपनी विशेषता है।"** इस संदर्भ में डॉ. राजीव तिवारी का कहना है—**"शरत् बाबू यथार्थवादी दृष्टिकोण को लेकर साहित्य के क्षेत्र में उतरे थे। अपने सभी उपन्यासों व कथाओं में उन्होंने सामाजिक रूढ़ियों पर निर्मम कुठाराघात किया और साथ ही यह भी प्रयास किया कि लकीर का फकीर न बनकर कुछ लीक से हटकर लिखा जाए। उनके लेखन में एक ओर रूढ़िवादी समाज की ना समझी व क्रूरता का चित्रण मिलता है। वहीं दूसरी ओर उनकी नारी पात्र अपमानित, पीड़ित, शोषित व लाँछित प्रतीत होते हैं। नारी वर्ग के प्रति उनके मन में गहरी संवेदना थी और इसके प्रति वे विशेष संवेदनशील रहे भी।"** शरत् बाबू के जीवन के अनेक प्रसंगों से उनकी संवदेनशीलता और सहजता का पता चल जाता है। विधवा नीरू के प्रति उपन्यासकार ने जो संवेदनशीलता दिखाई वह अनुकरणीय है। अपने मित्र बंगचंद्र की बीमारी की अवस्था में उन्होंने खूब सेवा की। प्लेग के रोगियों की उन्होंने जो सेवा की वो बेमिसाल है। उनकी ये संवेदनशीलता केवल मनुष्यों के लिए हीं नहीं, अपितु पशु-पक्षियों के लिए भी थी। प्रभाकर जी ने पशुओं के प्रति शरत् की संवदेनशीलता का वर्णन करते हुए लिखा भी है—**"उसी समय सहसा धोबी का आर्त्तनाद सुना। प्राणों के भय से वह अपनी बकरी खोलना भूल गया था। शरत् तुरन्त दौड़ा। किसी के निषेध की उसने परवाह नहीं की। जलते हुए घर में घुस गया। सभी लोग हाय-हाय करने लगे। परन्तु उसी क्षण आग और धुएँ के कुण्डल के बीच में से बकरी के बच्चे को छाती से चिपकाएँ हुए वह विद्युत गति से बाहर आ गया। ठीक इसी समय वह जलता हुआ हार बड़े जोर से टूटकर गिर पड़ा।**

8. सच्चा देश भक्त—शरत् चन्द्र भले ही उच्च कोटि के साहित्यकार रहे हों, लेकिन वे सच्चे देश-भक्त भी थे। उनका झुकाव हमेशा गरम दल की ओर ही रहा और वे देश की स्वतन्त्रता के आंदोलन में पूर्ण विश्वास रखते थे। तिलक के प्रति उनके मन में अपार श्रद्धा थी। उनके निधन पर उन्होंने लिखा था—**"तिलक केवल हमारे भाई ही नहीं थे। बन्धु ही नहीं थे। नेता ही नहीं थे, वे हम 22 करोड़ के मलिन ललाट के शुभ गौरवमय तिलक थे। वही तिलक आज मिट गया हम अनाथ हो गए हैं।"** जलियांवाला बाग हत्याकांड के विरुद्ध हावड़ा में एक विशाल जनसभा हुई थी। उसमें शरत् बाबू ने भी प्रत्यक्षतः भाग लिया था। यही नहीं गांधी जी द्वारा चलाए गए असहयोग आंदोलन में भी उनकी पूर्ण आस्था थी। एक दिन उन्होंने गांधी जी से कहा भी था—**"महात्मा जी, आपने असहयोग रूपी एक अमोघ अस्त्र का आविष्कार किया है। अगर जनता सरकार से सहयोग न करे तो वह एक दिन में ही समाप्त हो जाए। तब हम एक वर्ष में नहीं 24 घण्टे में स्वराज्य ले सकते हैं।'** अपने उपन्यास **'पत्थेर दाबी'** में भी लेखक ने देश की समृद्धि की बजाए देश की स्वाधीनता की कामना की है। इसी प्रकार शरत् बाबू ने न केवल क्रांतिकारियों को अपने घर में आश्रय दिया, बल्कि उनको आर्थिक सहायता भी प्रदान की, वे विदेशी कपड़ों और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के समर्थक थे। उन्होंने हावड़ा से कौंसिल का चुनाव इसलिए नहीं लड़ा, क्योंकि उन्होंने स्वयं देश के लिए कुछ नहीं किया था और जेल भी नहीं गए थे। फिर भी उनके उपन्यासों में राष्ट्रीय चेतना के अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि शरत् चन्द्र एक महान साहित्यकार होने के साथ कुशाग्र बुद्धि के स्वामी, प्रतिभा सम्पन्न लेखक, निर्भीक वक्ता, परोपकारी, दयालु, संवेदनशील तथा सच्चे राष्ट्रप्रेमी थे। उन्होंने आजीवन अन्याय और अत्याचार का विरोध किया और दीन-दलितों की सहायता की। उन्होंने हमेशा विधवाओं और वेश्याओं के प्रति सहानुभूति प्रकट की। यथासंभव उनकी सहायता भी की। इसलिए कुछ आलोचक उनको नारी जाति का जबरदस्त वकील कहते हैं।

◆◆◆

आलोचनात्मक प्रश्न

1. पाठ्यक्रम में निर्धारित निबंधों का मूल प्रतिपाद्य एवं शिल्प

1. बालकृष्ण भट्ट द्वारा रचित 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है'– नाटक निबन्ध का प्रतिपाद्य स्पष्ट करें।

(Most Imp.)

अथवा

"साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है" शीर्षक निबन्ध काव्य को सार रूप में लिखिए।

उत्तर–साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है निबंध का मूल प्रतिपाद्य–बालकृष्ण भट्ट द्वारा रचित निबन्ध 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है' एक विचार प्रधान निबन्ध है, जिसमें लेखक ने यह स्पष्ट किया है कि साहित्य मानव के हृदय की भावनाओं से ही विकसित होता है। जिस देश में जिस प्रकार के लोग रहते हैं और जिस प्रकार का उनका जीवन-स्तर होता है,

उसी के अनुसार ही उनके विचार होते हैं। उन्हीं विचारों के आधार पर साहित्य का सृजन होता है, परन्तु लोगों के विचार समय के अनुसार बदलते रहते हैं। विचारों की यह स्थिति हमेशा एक जैसी नहीं रहती। यह स्थिति क्यों बदलती है और कैसे बदलती है, इसी पर लेखक ने इस निबन्ध में व्यापक स्तर पर मंथन किया है। लेखक के इस विवेचन से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि निश्चय से ही साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास होता है। लोगों के विचारों में परिवर्तन के साथ ही साहित्य भी परिवर्तित हो जाता है। साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है निबंध के मूल प्रतिपाद्य को हम निम्नलिखित बिंदुओं के अंतर्गत विवेचित कर सकते हैं–

साहित्य जन समूह के हृदय का विकास है : मूल प्रतिपाद्य

↓

1. साहित्य परिस्थितियों से प्रभावित

↓

2. वैदिक साहित्य की चर्चा

↓

3. रामायण और महाभारत का साहित्य

↓

4. परवर्ती साहित्य और विभिन्न भाषाओं का विकास

↓

5. पौराणिक साहित्य

1. साहित्य परिस्थितियों से प्रभावित–निबन्ध के आरम्भ में लेखक ने यह बताने का प्रयास किया है कि साहित्य जनसमूह के हृदय का प्रतिबिम्ब है, लेकिन समय के साथ-साथ प्रत्येक देश की परिस्थितियाँ बदलने लगती हैं। ये परिस्थितियाँ न केवल लोगों की मान्यताओं को प्रभावित करती हैं, बल्कि उनकी मान्यताओं, परम्पराओं तथा विचार सारणियों को भी प्रभावित करती हैं। ये मानव-जीवन की दो स्थितियाँ हो सकती हैं–सुखद और दुःखद। सुखद स्थिति में मानव का मन प्रसन्न रहने लगता है। उसके शरीर में स्फूर्ति उत्पन्न होती है तथा उनकी वाणी कोमल, मीठी और मधुर सुनाई देती है। उसके जीवन में उल्लास तथा प्रसन्नता का वातावरण छाया रहता है, लेकिन इसके विपरीत दुःखद स्थिति में मानव के हृदय में पीड़ा, निराशा, करुणा आदि के भाव उत्पन्न होने लगते हैं। मानव के शरीर से स्फूर्ति गायब हो जाती है। उसकी वाणी से भी निराशाजनक बातें निकलने लग जाती हैं। इससे यह बात स्वतः स्पष्ट हो जाती है कि परिस्थितियों के अनुसार ही मानव के मन में परिवर्तन उत्पन्न होता है। यही परिवर्तन आगे चलकर मानव के जीवन और उसके साहित्य को भी प्रभावित करने लगता है। इसी विचारधारा को आधार बनाकर लेखक ने वैदिक संस्कृति, पौराणिक संस्कृति, बौद्ध और जैन संस्कृति, हिन्दू संस्कृति और आज की परिवर्तित भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में साहित्य का विवेचन किया है।

2. वैदिक साहित्य की चर्चा–लेखक का कहना है कि वेद प्राचीन आर्यों का साहित्य है। उस समय आर्य लोग बालकों के समान थे। उनके मन में भोलापन, उदारता, कोमलता, सहनशीलता, स्नेह, प्रेम आदि के भाव प्रमुख थे। ऋषि-मुनियों ने वेदों की रचना की, इसलिए वैदिक साहित्य महापुरुषों के हृदय का विकास है। उस समय के लोग आपस में बहुत कम झगड़ा करते थे। लोग अपना स्वार्थ छोड़कर दूसरों का कल्याण करने से आनन्द प्राप्त करते थे। भाई-भाई का बँटवारा नहीं होता था। संयुक्त परिवार परम्परा थी और प्रत्येक व्यक्ति पूरे समाज की चिन्ता करता था। यही कारण है कि कणाद और कपिल जैसे महान् ऋषि-मुनि निरन्तर प्राकृतिक पदार्थों की खोज में लगे रहे। वस्तुतः वे समाज की उन्नति करना चाहते थे। इन ऋषि-मुनियों ने कालिदास, भवभूति, श्रीहर्ष आदि संस्कृत कवियों के समान सुन्दरियों के विभ्रम-विलास तथा चंचल सौन्दर्य का कहीं वर्णन नहीं किया। वे सूर्य के प्रकाश को देखकर उस अज्ञात और अनन्त शक्ति की खोज में लगे रहे। प्रकृति पूजा आर्यों के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण थी। श्याम मेघमाला की सुन्दता को देखकर आर्य लोग प्रसन्न हो उठते थे। जिस समय ऋग्वेद और सामवेद की रचना हुई, उस समय समाज में राजनीतिक और सामाजिक स्तर पर कोई अन्याय अथवा अत्याचार नहीं होता था। लेखक के अनुसार तत्कालीन आर्यों की स्थिति अपूर्ण थी। सब कुछ होते हुए भी वे अपने साथियों के साथ कभी भी बुरा व्यवहार नहीं करते थे। इसलिए वैदिक

साहित्य में कहीं भी कृत्रिमता नज़र नहीं आती। उस समय का धर्म मानवीय धर्म है। आर्य लोग दूसरों के प्रति सहानुभूति, स्नेह और प्रेम रखते थे। वेदों को पढ़ने से यह तथ्य स्वतः प्रमाणित हो जाता है।

वैदिक साहित्य से जुड़ा हुआ ही उपनिषद् साहित्य है। यह साहित्य भी तत्कालीन जनसमूह के हृदय के विकास को प्रस्तुत करता है। उपनिषद् साहित्य वैदिक साहित्य से ही उत्पन्न हुआ है। इससे जुड़ा हुआ स्मृति साहित्य भी है। यह सम्पूर्ण साहित्य उस समय की जनभावनाओं की अभिव्यक्ति करता है। भट्ट जी का कथन है कि स्मृतियों और आर्य ग्रन्थों की भाषा वैदिक और आधुनिक संस्कृति के बीच की भाषा कही जा सकती है। आगे चलकर पाणिनि ने संस्कृत भाषा को समृद्ध किया और उसे व्याकरण सम्पन्न बनाया। पाणिनि के द्वारा रचित सूत्र संस्कृत पाठकों के लिए कामधेनु के समान है।

3. रामायण और महाभारत का साहित्य—बालकृष्ण भट्ट के अनुसार वैदिक साहित्य के पश्चात् रामायण और महाभारत जैसा पौराणिक साहित्य रचित हुआ। रामायण काल में भारतीय सभ्यता और संस्कृति अपने यौवन पर पहुँच चुकी थी। इस युग में प्रेम, सहानुभूति, करुणा, मानवीय कल्याण आदि भावों को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता था। रामायण महाकाव्य मानवतावाद से जुड़ा हुआ काव्य है, जो कि आदर्श मानवीय सम्बन्धों को व्यक्त करता है। रामायण के अधिकांश पात्र आदर्श पात्र हैं। राम, भरत, लक्ष्मण आदि के चरित्र भातृभावना के निष्कपट और आदर्श रूप की स्थापना करते हैं। धीरे-धीरे रामायणकालीन संस्कृति नष्ट होती चली गई और महाभारत की संस्कृति विकसित होती चली गई। यही कारण है कि रामायण और महाभारत की स्थितियों में काफी अन्तर देखने को मिलता है। रामायण में भाई एक-दूसरे के प्रति प्रेम दिखाते हैं, लेकिन महाभारत में राज्य-प्राप्ति के लिए दो भाई (युधिष्ठिर और दुर्योधन) युद्ध करते हैं। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैसे-जैसे स्थितियाँ बदलती हैं; वैसे-वैसे लोगों की सोच भी बदलने लगती है। साहित्य इन्हीं परिवर्तित परिस्थितियों को प्रस्तुत करता है। इस सन्दर्भ में लेखक ने लिखा भी है—**''वाल्मीकि ने जिन-जिन बातों को अवगुण समझा अपनी कल्पना के प्रधान नायक रामचन्द्र में बरकाया था, वे ही इस व्यास के समय में गुण हो गए, जिनके कवियों का मुख्य लक्ष्य यही था कि अपना मान, अपना गौरव व अपना प्रभुत्व जहाँ तक हो सके, न जाने पाए। भारत के हर एक प्रसंग को तोड़ अन्त में इसी बात पर है। शत्रु संहार और निज कार्य साधन निमित्त व्यास ने महाभारत में जो उपदेश दिए हैं और राजनीतिक कतर-व्यकोंत जैसी चीज दिखाई है, उसे सुनकर विस्मार्क सरीखे इस समय की राजनीति के मर्म में कुशल राजपुरुषों की अकल (बुद्धि) भी चरने चली जाती होगी। इससे निश्चय होता है कि प्रभुत्व और स्वार्थ-साधन तथा प्रवंचना परवश भारतवर्ष उस समय कहाँ तक उदार भाव, संवेदना आदि उत्तम गुणों से विमुख हो गया था। युधिष्ठिर धर्म के अवतार और सत्यवादी के रूप में प्रसिद्ध हैं, पर उनकी सत्यवादिता निज कार्य साधन के समय खुल गई। 'अश्वत्थामा हतः नरो वा कुंजरो वा' इत्यादि कितने उदाहरण इस बात के हैं, विस्तार रूप से नहीं लिखते।''**

4. परवर्ती साहित्य और विभिन्न भाषाओं का विकास—महाभारत युद्ध के पश्चात् भारत में अनेक परिवर्तन होने लगे। पहले तो लौकिक संस्कृत में कालिदास, भवभूति, बाणभट्ट आदि ने उच्चकोटि के साहित्य की रचना की, लेकिन बौद्धों और जैनों के आगमन के फलस्वरूप भारी परिवर्तन होने लगा। बौद्धों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। वे वेद और ब्राह्मण संस्कृति के विरोधी थे, इसलिए उन्होंने लौकिक संस्कृत को बिगाड़कर प्राकृत भाषा का विकास किया और उसी में अपने ग्रन्थों की रचना की। संस्कृत भाषा अब सर्वसाधारण की भाषा नहीं थी, बल्कि कुछ गिने-चुने लोग ही संस्कृत भाषा का प्रयोग करते थे। फलस्वरूप भाषा के क्षेत्र में अनेक परिवर्तन हुए। शौरसेनी, महाराष्ट्र, मागधी, अर्द्ध मागधी और पैशाची आदि अनेक भाषाएँ प्रचलित हुईं और इनमें साहित्य भी लिखा गया। इधर जैनियों ने प्राकृत भाषा में अपने ग्रन्थ लिखे। एक समय ऐसा भी आया जब वैदिक भाषा के समान प्राकृत भाषा अत्यधिक लोकप्रिय हो गई। लौकिक संस्कृत का क्षेत्र तो बहुत ही सीमित था। यही कारण है कि कालिदास, भवभूति आदि ने अपने नाटकों में निम्नकोटि के पात्रों द्वारा ही प्राकृत भाषा का प्रयोग करवाया है।

5. पौराणिक साहित्य—बौद्धों के पतन के बाद पुराण साहित्य का युग शुरू हुआ। इस युग में अत्यधिक संख्या में पुराण और उपपुराण लिखे गए। अतः आज हम लोगों में जो धर्म शिक्षा प्रचलित है, वह शुद्ध वैदिक धर्म शिक्षा नहीं कही जा सकती। आज बहुत कम लोग अपने को स्मार्त मानते हैं। अधिकांश लोग तो वैदिक धर्म को ही स्वीकार करके चलते हैं। यही नहीं, पौराणिक साहित्य ने भी हमारे धर्म को अत्यधिक प्रभावित किया है। इस संदर्भ में **बालकृष्ण भट्ट** लिखते हैं—**''हमारी विद्यमान छिन्न-भिन्न दशा, जिसके कारण हजार चेष्टा करने पर भी जातीयता हमारे सामने आती नहीं, सब पुराण की ही कृपा है। जब तक शुद्ध वैदिक साहित्य हम लोगों में प्रचलित था। तब तक जातीयता के दृढ़ नियमों में जरा भी अन्तर नहीं होने पाया था। पुराणों के साहित्य के प्रचार से एक बड़ा लाभ भी हुआ कि वेद के समय की बहुत-सी घिनौनी रीतियों और रस्मों को, जिनके नाम लेने से भी घिन्ना उठते हैं और उन सब महाघोर हिंसाओं को जिनके सबब से अपने अहिंसा धर्म के प्रचार करने में बौद्धों को सुविधा हुई थी, पुराण**

...ों ने उठाकर शुद्ध सात्विकी धर्म को विशेष स्थापित किया। उनके मत-मतान्तरों का प्रचार भी पुराणों की ही करतूत है। ...वाले तो पंचायतन पूजन तक ही से सन्तोष करके रह गए। तन्त्रों ने बड़ा संहार किया। उन्होंने अनेक क्षुद्र देवता भैरों, काली, ...नी, शाकिनी, भूत, प्रेत तक के पूजन को फैला दिया। मद्य-माँस के प्रचारकों जिसे बौद्धों ने तमोगुणी और मलिन समझ कर ...दिया था, तान्त्रिकों ने फिर बहला दिया।''

निष्कर्ष–प्रस्तुत निबन्ध में लेखक यह स्पष्ट करना चाहता है कि हमारी हिन्दू जाति का निरन्तर विभाजन होता रहा है, ...लते हमारी संस्कृति में भी बदलाव आया। जैसे-जैसे परिवर्तन हुआ; वैसे-वैसे हमारी मनोवृत्ति बदलती गई और तदानुसार साहित्य ...भी परिवर्तन हुआ। निबन्ध के अन्त में लेखक पद्मावत और पृथ्वीराज रासो की चर्चा करता है। भट्ट जी का कहना है कि पद्मावत में तो थोड़ा-सा रस है, लेकिन पृथ्वीराज रासो में ऐसा कुछ भी नहीं जिसकी हम प्रशंसा कर सकें, लेकिन यह एक सत्य है कि परिस्थितियों का बदलाव मानव-मन की भावनाओं को बदलता है और यह बदलाव साहित्य और समालोचना को भी बदल देता है। इसलिए यह कहना तर्कसंगत है कि साहित्य जनसमूह के हृदय का सच्चा विकास है।

◆◆◆

2. श्री बालकृष्ण भट्ट के निबन्धों की शिल्पगत-विशिष्टता पर प्रकाश डालिए। (Imp.)

अथवा

बालकृष्ण भट्ट के निबन्धों की तात्विक समीक्षा कीजिए।

उत्तर–निबन्ध एक ऐसी साहित्यिक गद्य विधा है जिसमें लेखक किसी एक विषय पर अपने स्वतन्त्र विचार व्यक्त करता है। वह विषय सम्बन्धी सम्पूर्ण जानकारी देता हुआ, उसका सूक्ष्म विवेचन करता हुआ अपना निजी दृष्टिकोण भी व्यक्त करता है। एक सफल निबन्ध में आदि से अन्त तक एकसूत्रता, क्रमबद्धता तथा प्रभावान्विति का होना भी नितान्त आवश्यक है। इसके साथ-साथ निबन्ध की शैली अत्यन्त सजीव और रोचक होनी चाहिए अन्यथा निबन्ध शुष्क एवं नीरस बनकर रह जाएगा। निबन्ध के तत्त्वों के बारे में विद्वानों ने अपने अलग-अलग मत व्यक्त किए हैं। डॉ. दशरथ ओझा ने गद्य-रचना, लेखक का व्यक्तित्व, विचारों की एकसूत्रता, सहज रोचकता, भावों का पुट तथा औपचारिकता का अभाव आदि निबन्ध के छः तत्त्व माने हैं। इधर दान बहादुर पाठक ने निबन्धकार का व्यक्तित्व, विषय, स्वतन्त्रता, आकार लघुता तथा सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति, विचारों की स्वाधीनता तथा अनेकता में एकता, निजी अनुभूति का प्रकाशन, भावुक प्रवदत्ता तथा सजीव भाषा-शैली तथा सहज प्रभावोत्पादकता आदि निबन्ध के सात तत्त्व स्वीकार किए हैं। लेकिन कुछ अन्य आलोचक निबन्ध के पाँच ही तत्त्व मानते हैं। ये हैं–बुद्धि तत्त्व, अनुभूति तत्त्व, कल्पना तत्त्व, अहम् तत्त्व (वैयक्तिकता का उद्घाटन) तथा शैली तत्त्व। जहाँ तक निबन्धकार के निबन्धों के वैशिष्ट्य का प्रश्न है, इन तत्त्वों में कुछ अन्य विशेषताएँ भी जोड़ी जा सकती हैं। बालकृष्ण भट्ट के निबंधों का शिल्पगत वैशिष्ट्य निम्नलिखित बिंदुओं के अंतर्गत स्पष्ट किया जा सकता है–

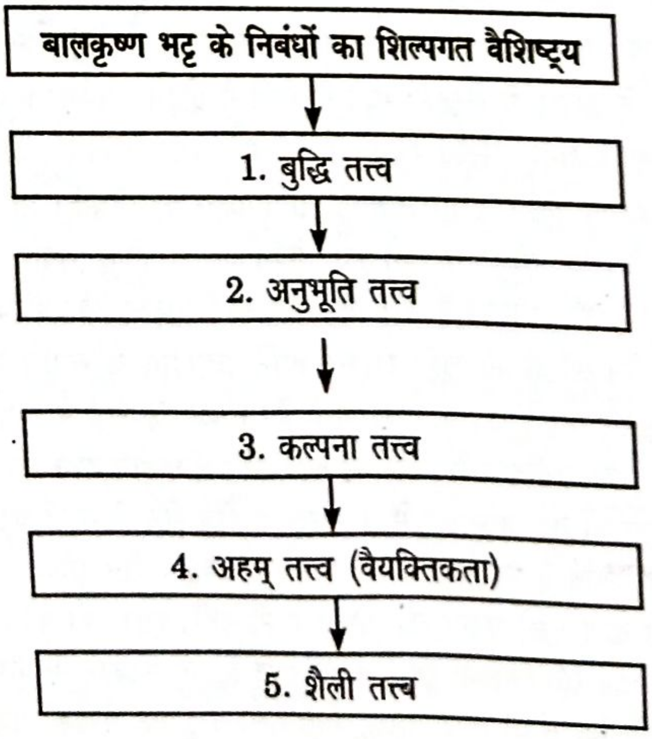

1. बुद्धि तत्त्व–यह निबन्ध का प्रधान महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। बुद्धि से अभिप्राय है निबन्धकार की विचार-शक्ति। यही निबन्धकार को चिन्तन-मनन की ओर अग्रसर करती है और विषय के विविध पहलुओं पर सोचने के लिए प्रेरित करती है। इसी के अन्तर्गत लेखक अपने भावों और विचारों को विषयानुसार प्रकट करता है। निबन्ध के विषय राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक तथा साहित्यिक में से कोई एक हो सकता है, परन्तु निबन्धकार विषय से सम्बन्धित अपने मौलिक विचारों को निबन्ध में व्यक्त करता है। जहाँ तक भट्ट जी के निबन्धों का प्रश्न है, उन्होंने अपने राजनीतिक निबन्धों में तत्कालीन अंग्रेजी शासकों की व्यंग्यपूर्ण शैली में कटु आलोचना की है। एक स्थल पर वे लिखते भी हैं–**"हे शुभयो! आप राजराजेश्वरी के महापार्षद हो। खाँ बहादुर, राय बहादुर आदि उपाधि आपकी सेवा परिचर्या का सद्यः फल और आपकी हिकमत अमली का परिणाम है। हे सकल सामन्त चक्रवर्तिन्! अनेक दोष दूषित भी आपकी कारगुजारी को क्या ताकत कोई दूष सके। आपके प्रबन्ध को बुरा कहना गवर्नमेंट का विरोधी हो जाना है। ... हे महाभाग! तुम प्रत्यक्ष देवता हो। देवगण जैसा देवाङ्गनाओं को साथ लिए स्वच्छन्द क्रीड़ा-विहार किया करते हैं। वैसा ही तुम भी प्रजा का धन और प्राण अपनी मुट्ठी में भर विमान सदृश स्वच्छ फिटिन पर लौंडियों को अपने पास बैठाए विमल गगन-पथ समान ठंडी सड़कों में स्वच्छ समीर का सेवन करते हुए विचरते हो।"**

वस्तुतः भट्ट जी के सभी निबन्ध चिन्तन प्रधान हैं। लेकिन चिन्तन तथा मनन की पद्धति पूर्णतया मौलिक है। वे बड़ी गहराई के साथ विषय पर विचार करते हैं और फिर किसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। यही नहीं, उनके विचारों में निर्भीकता और स्पष्टवादिता भी देखी जा सकती है। जात-पात निबन्ध में वे निर्भीक होकर लिखते हैं–**"जैसा बेहूदा तरीका बिरादरी का इस समय प्रचलित है, उससे कभी आशा नहीं की जा सकती कि जाति-पाति के सत्यानाश हुए बिना उन्नति की हजार बार चेष्टा करने पर भी हमारी या हमारे देश की कभी तरक्की होगी। स्वाधीनता की नाक काटने वाली इस जाति-पाति की कुरीति देख यही मन में आता है कि परमेश्वर हमने कौन-सा पाप किया था कि जिसका फल भोगने के लिए ऐसे कुलच्छिनी समाज में तूने हमें पैदा कर दिया।"** इस प्रकार भट्ट जी ने यदि समाज सुधार की बातें की हैं तो संयुक्त परिवार के दोषों का वर्णन किया है, बाल विवाह का विरोध किया है, विधवा-विवाह का समर्थन किया है और पर्दा-प्रथा को समाज के लिए कलंक बताया है। प्रस्तुत निबन्ध "साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है" में भट्ट जी ने स्पष्ट किया है कि साहित्य मनुष्य के हृदय की भावनाओं के आधार पर विकसित होता है। जिस देश में जैसे लोग रहते हैं और उनका जैसा जीवन स्तर होता है, उसी के अनुसार उनके विचार हुआ करते हैं। इन्हीं विचारों का प्रतिरूप साहित्य कहलाता है। इस प्रकार भट्ट जी के निबन्धों में बुद्धि तत्त्व के कारण तर्कशीलता, स्पष्टवादिता, निर्भीकता, स्वच्छन्दता तथा यथार्थता आदि प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। एक उदाहरण देखिए–

> **"शत्रु-संहार और निज कार्य-साधन निमित्त व्यास ने महाभारत में जो-जो उपदेश दिए हैं और राजनीति की काट-फोंत जैसी-जैसी दिखाई है उसे सुन बिस्मार्क सरीखे इस समय के राजनीतिक के मर्म में कुशल राजपुरुषों की अकिल भी चरने चली जाती होगी। इससे निश्चय होता है कि प्रभुत्व और स्वार्थ-साधन तथा प्रवंचना परवश भारतवर्ष उस समय कहाँ तक उदार भाव, समवेदना आदि उत्तम ग्रन्थों में विमुख हो गया था।"**

2. अनुभूति तत्त्व–अनुभूति के कारण ही लेखक अपने निबन्धों में प्रौढ़ता, गम्भीरता और परिपुष्टता उत्पन्न कर सकता है। जिस लेखक की अनुभूति जितनी गहन होगी, उसकी रचना भी उतनी गौरवमयी होगी। अनुभूति का सम्बन्ध मानव-जीवन और संसार से है। संसार में विविध क्रियाकलाप, विभिन्न परिस्थितियाँ, नाना प्रकार के परिवर्तन आदि के फलस्वरूप लेखक विभिन्न प्रकार की अनुभूतियों का संग्रह कर लेता है। वह संसार में रहते हुए जीवन के हर्ष-शोक, सदाचार-दुराचार, सत-असत, मंगल-अमंगल, धर्म-अधर्म आदि प्रवृत्तियों को देखता है और भोगता है और धीरे-धीरे उसमें प्रौढ़ता और परिपक्वता आने लगती है। भट्ट जी एक अनुभूति सम्पन्न निबन्धकार हैं। उन्होंने आँखों को खुला रखकर अपने आसपास के समाज को देखा और परखा। वे वर्तमान की विषमताओं को देखकर भविष्य के सपने बनाते थे। यही कारण है कि उनके निबन्धों में विषयगत विविधता देखी जा सकती है। उनकी अनुभूति में विशालता, प्रौढ़ता और सजीवता है। देश की तत्कालीन दीन-हीन दशा को देखकर उन्होंने निर्भीक होकर अपने विचार व्यक्त किए। अपने निबन्ध 'कृषकों का अश्रुपात' में वे भारत के दीन-हीन किसानों की दयनीय स्थिति का वर्णन करते हुए लिखते हैं–"बड़े संताप और दुःख की बात है कि प्रजा-समूह में सबसे अधिक दीन-दुखिया और कृपापात्र कृषकों का अश्रुपात, जिसमें किसी प्रकार की चिल्लाहट या कोई दूसरे प्रकार की आहट है ही नहीं; दूसरों की कौन कहे जिसे वे लोग दीन-दुखियों का मौलिक और प्रत्यक्ष देवता समान मान दिन-रात जिसकी दुहाई मनाते रहते हैं, वह सरकार भी कभी कुछ नहीं देखती सुनती है। इससे अधिक क्लेश की और कौन बात होगी कि सीधी-सीधी सरल, भाव-सम्पन्न-कृषक मण्डली पशुओं की भाँति अपना तन-मन-धन

खेत के मिट्टी में मिला रही है; धूप, वर्षा और जाड़ा सहकर सब मास और ऋतु जगदुपकारी पदार्थ पैदा करती है; चौकर, चना, भूसी, साग-पात खाकर जीती है और सब उत्तम पदार्थ देवान्न को बेच-बेच जमींदार का पेट और सरकार का खजाना भरती है। उसके अश्रुपात की धारा रोकने वाला कोई नहीं है।''

अनुभूति तत्त्व के आधार पर ही लेखक ने 'आत्म-निर्भरता' नामक निबन्ध में भारतवासियों को यह समझाने का प्रयास किया है कि ईश्वर उनकी सहायता करता है जो अपनी सहायता आप करते हैं। आलसी व्यक्ति जीवन में कभी सफल नहीं हो सकता है, लेकिन परिश्रम करके वह भी सफल हो सकता है। लेखक अपने अनुभव के आधार पर कहता है कि हम आत्म-निर्भरता की शिक्षा स्कूलों अथवा कॉलेजों से प्राप्त नहीं कर सकते, बल्कि अपने आसपास के लोगों से प्राप्त कर सकते हैं। एक उदाहरण देखिए—

''आत्म-निर्भरता'' या अपने आप अपनी सहायता के सम्बन्ध में जो शिक्षा हमें खेतिहर, दुकानदार, बढ़ई, लोहार आदि कारीगरों से मिलती है, उसके मुकाबले में स्कूल तथा कॉलेजों की शिक्षा कुछ नहीं है और यह शिक्षा हमें पुस्तकों या किताबों से नहीं मिलती वरन् एक-एक मनुष्य के चरित्र, आत्मदमन, दृढ़ता, धैर्य, परिश्रम, स्थिर अध्यवसाय पर दृष्टि रखने से मिलती है। इन सब गुणों से हमारे जीवन की सफलता है। ये गुण मनुष्य जाति की उन्नति के छोर हैं और हमें जन्म लेकर क्या करना चाहिए इसका सारांश है।'' इस प्रकार हम देखते हैं कि भट्ट जी ने अपनी गहन और परिपक्व अनुभूति के आधार पर समसामयिक समस्याओं पर बड़े ही मौलिक विचार व्यक्त किए हैं और कुरीतियों तथा रूढ़ियों के उन्मूलन का प्रयास किया है।

3. कल्पना तत्त्व—निबन्ध का एक अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व कल्पना है। कल्पना द्वारा निबन्धकार अप्रत्यक्ष या परोक्ष का प्रत्यक्षीकरण कराता है और अनुभूत पदार्थों, मनोवृत्तियों, भावों तथा विचारों के मानसिक शब्द-चित्र प्रस्तुत करता है। भट्ट जी के निबन्धों में कल्पना का अत्यधिक प्रयोग देखा जा सकता है। कल्पना के कारण वे एक ओर तो विविध विचारों में कल्पना का मिश्रण करके निबन्धों को सरस और सजीव बनाते हैं और दूसरी ओर कल्पना के द्वारा वे चुटीले व्यंग्य लिखने में सफलता प्राप्त करते हैं। 'पत्नी स्तव' नामक निबन्ध में लेखक की कल्पना का कौशल देखिए—**''हे महाराणी पत्नी तुम्हें नमस्कार है। तुम संसार का बन्धन महा जगड्वाल की मूलाधार हो। एक बार विवाह कर तुम्हारे जाल में फँस जाना चाहिए फिर क्या सामर्थि कि इस छंदान को तोड़ कोई कहीं भाग सके। .... हे पत्नी! लोक और वेद दोनों तुम्हारी तपस्या और अपचिति में सावधान और प्रवण है। हे पत्नी! तुम्हारे कोमल अंग-सौष्ठव का सम्पर्क, तुम्हारे अधरामृत का पान, वाचारव कोकिलालाप, कूहू-नाद को तिरस्कार करने वाला तुम्हारे कोकिल-कंठ-निर्गत शब्दों को जिसने अपने कानों का अतिथि न किया उस लंडरे का जीवन ही क्या?...''**

वस्तुतः भट्ट जी ने अपने असंख्य निबन्धों में कल्पना के सहारे बड़ी ऊँची उड़ानें भरी हैं। वे कल्पना का प्रयोग करते हुए अकसर व्यंग्य का सहारा लेने लगते हैं। फलस्वरूप उनके निबन्धों में सरसता, मार्मिकता, स्वाभाविकता, भावुकता, लालित्य आदि विभिन्न प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो गई हैं। 'एक अनोखे स्वप्न' नामक निबन्ध में लेखक ने कल्पना की उड़ान के द्वारा समाज की विषमताओं का यथार्थ वर्णन प्रस्तुत किया है। **''... एक ओर सभ्यता के छोर तक पहुँचे हुए राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार वैभवोन्माद में उन्मत्त अपने-अपने वित्त के अनुसार हर तरह का ठाठ-ठाठे हुए फैशनपरस्ती के पीछे परेशान-संसार के सुख की सीमा अपने ही में मानते हैं, एक ओर कंगाल किसान अपनी गरीबी के अभिमान में भूला हुआ थोड़े से खेत और फूस की झोंपड़ी से सन्तुष्ट राजा-महाराजाओं की सम्पत्ति को भी तुच्छ कहता हुआ अपने को परम सुखी माने हुए है।''**

4. अहम् तत्त्व (वैयक्तिकता)—निबन्धकार अहम् तत्त्व द्वारा ही निबन्ध में वैयक्तिकता का समावेश करता है। लेखक की वैयक्तिकता ही उसे अन्य निबन्धकारों से अलग करती है। प्रत्येक निबन्धकार कहीं-न-कहीं निबन्ध में अपने वैयक्तित्त्व को अवश्य समाविष्ट करता है। उदाहरण के रूप में यदि कोई निबन्धकार गम्भीर और चिन्तनशील है तो उसके निबन्ध में विचारों की गम्भीरता अवश्य देखने को मिलेगी। भावुक तथा सहृदय निबन्धकार अपने निबन्धों में भावुकता और सहृदयता की झलक अवश्य छोड़ जाता है। यही स्थिति व्यंग्यकारों की होती है। भट्ट जी स्वयं एक निर्भीक, निडर और स्वच्छन्द मनोवृत्ति के लेखक थे। वे बड़े ही ईमानदार, चरित्रवान और स्वाभिमानी लेखक थे। यही कारण है कि उन्होंने अपने निबन्धों में बड़ी निडरता के साथ तत्कालीन अंग्रेज सरकार की घोर भर्त्सना की है। वे अंग्रेजों को झूठा, नीच, स्वार्थी, पापी तथा चरित्रहीन कहने का साहस रखते थे। एक स्थल पर वे लिखते भी हैं—**''ऐसी-ऐसी अनीति देख हम भी यही निष्कर्ष निकालते हैं कि भूखों के हाथ की रोटी छीन, दुखियों के तन के वस्त्र उतार, लोगों के प्राण का रुधिर चूस सरकार रुपया उगाहेगी और उस रुपये से इंग्लैंड की प्रबल जठराग्नि और आहुति देगी। उस रुपये से अंग्रेज सिविलियनों और सिपाहियों को शराब पिलाई जाएगी। उस रुपये से हथियार खरीद सरकार अमीर काबुल को देगी कि अवसर पाकर उसी से हमारा और अंग्रेजों का भी गला काटा जाए। उसी रुपये से राजा को गद्दी से उतार, ब्रह्म की निर्दोष प्रजा को सदा के लिए गुलाम बनाएगी।''**

कूट-कूटकर भरी हुई थी। उन्होंने अपने निबन्धों के द्वारा हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बल दिया। इसके अतिरिक्त वे एक हँसमुख, विनोदी तथा हास्यप्रिय व्यक्ति भी थे। 'हुक्कास्तव', 'हाकिम', 'खलवंदना', 'बे', 'एक इंगलिसाइड्ज', 'नए मित्र की मुलाकात', 'वधूस्तव', 'पत्नीस्तव', 'वकील', 'कट्ट सूम की एक नकल' आदि निबन्धों में लेखक ने हास-परिहास के साथ व्यंग्य विनोद का खुलकर प्रयोग किया है।

5. शैली तत्त्व–शैली प्रत्येक लेखक की अपनी होती है। इसका सम्बन्ध अभिव्यक्ति पंक्ष से है। शैली के द्वारा ही निबन्धकार अपने निबन्ध को अधिकाधिक रोचक, आकर्षक, मनोरंजक तथा प्रभावोत्पादक बना सकता है। भट्ट जी ने भारतेन्दुयुगीन प्रचलित भाषा-शैली का प्रयोग किया है। वे प्रायः लोक प्रचलित शब्दों का प्रयोग करते हैं। भाषा के बारे में उनका दृष्टिकोण बड़ा उदार था। यही कारण है कि उनकी भाषा में संस्कृत, अंग्रेजी, अरबी, फारसी आदि भाषाओं के शब्दों का पर्याप्त मिश्रण हुआ है। उनकी शैली के बारे डॉ. **द्वारिका प्रसाद सक्सेना** लिखते हैं–**''उनकी शैली में कहीं व्यंग्य एवं विनोद की प्रधानता रहती है, तो कहीं गुरुता-गम्भीरता भी विद्यमान रहती है। वे भावात्मक शैली का प्रयोग यदि अपने भावात्मक निबन्धों में करते हैं, तो विवरणात्मक शैली को अपने अन्य विचारात्मक निबन्धों में अपनाते हैं। वे अपने साहित्यिक निबन्धों में यदि तर्कपूर्ण आलोचनात्मक शैली का प्रयोग करते हैं, तो सरस निबन्धों में कविपूर्ण रसात्मक शैली का प्रयोग करते हैं, जिसमें आलंकारिता भी विद्यमान रहती है। ऐसे ही उन्होंने कविमय साहित्यिक निबन्धों में मुहावरों एवं लोकोक्तियों से परिपूर्ण लाक्षणिक शैली का प्रयोग किया है, तो कहीं-कहीं संवादात्मक निबन्धों में संलाप एवं भाषण शैली को अपनाया है।''**

भट्ट जी ने अपने निबन्धों में विविध प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया है। कहीं वे भावात्मक शैली का प्रयोग करते हैं तो कहीं गम्भीर विवेचनात्मक, तो कहीं विवरणात्मक शैली का प्रयोग करते हैं। इसके साथ-साथ उन्होंने लाक्षणिक, प्रतीकात्मक, संवादात्मक, आलंकारिक तथा चित्रात्मक शैलियों का भी खुलकर प्रयोग किया है। **श्री धनंजय भट्ट** ने उनकी भाषा-शैली के बारे में उचित ही लिखा है–**''उनका हर निबन्ध भाषा की सजीवता, रोचकता और स्थान-स्थान पर सुन्दर मुहावरों की लड़ी से गुंथा हुआ एक सुन्दर गुलदस्ता मालूम होता है। उनका एक-एक निबन्ध साहित्य सौरभ संयुक्त है। उनके निबन्ध के एक-एक शब्द में जो रस है, मौलिकता है, अनूठापन है वह अन्यत्र कहीं मिलना कठिन है।''**

उपर्युक्त विशिष्टताओं के अतिरिक्त भट्ट जी के निबन्धों में अन्विति, सुसम्बद्धता, राष्ट्रीय चेतना तथा विचारों की गम्भीरता आदि कुछ विशेषताएँ भी देखी जा सकती हैं। वे अपने प्रत्येक निबन्ध में सुसम्बद्ध विचारों को व्यक्त करते हैं, जिससे पाठक निबन्धों को सहज रूप से पढ़कर उसके विषय को समझ लेता है।

◆◆◆

2. कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता — महावीर प्रसाद द्विवेदी

3. 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' शीर्षक निबन्ध का मूल प्रतिपाद्य अपने शब्दों में लिखिए। (Most. Imp.)

अथवा

महावीर प्रसाद द्विवेदी के निबन्ध 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' का सार लिखिए।

उत्तर–'कविता की उर्मिला विषयक उदासीनता' का मूल प्रतिपाद्य–प्रस्तुत निबन्ध **'कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता'** आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का एक उल्लेखनीय निबन्ध है। इसमें लेखक ने रामकथा के रचयिताओं–वाल्मीकि, तुलसीदास आदि के प्रति इस बात को लेकर दुःख व्यक्त किया है कि उन्होंने अपनी रचनाओं में उर्मिला के प्रति उपेक्षा का भाव दिखाया। निबन्ध का आरम्भ करते हुए वे लिखते हैं कि कवि लोग स्वभावतः उच्छृंखल प्रवृत्ति के होते हैं। वे चाहे तो राई को पर्वत बना सकते हैं और पर्वत को राई। आदिकवि वाल्मीकि क्रौंच पक्षी के जोड़े में से निषाद द्वारा एक का वध देखकर करुणा से विचलित हो उठे और उन्होंने 'मानिषाद .....' श्लोक द्वारा निषाद को शाप तक दे डाला। लेकिन पर-दुःख-कातर उसी मुनि ने रामायण की रचना करते समय नव-विवाहिता दुःखिनी वधू उर्मिला की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। यद्यपि उसका पति लक्ष्मण उसे राजभवन में तड़पने के लिए छोड़कर राम और सीता के साथ 14 वर्षों के वनवास पर चला गया, लेकिन कवि ने अपने आदि महाकाव्य में उसका उल्लेख तक नहीं किया। जिन पाठकों नें वाल्मीकि रामायण का ... में सीता, माण्डवी तथा

श्रुतिकीर्ति के साथ उर्मिला का एक बार दर्शन करते हैं। वाल्मीकि ने सीता और उनके जीवनाधार रामचन्द्र के चरित्र-चित्रण के लिए ही रामायण की रचना की। जहाँ तक माण्डवी और श्रुतिकीर्ति का प्रश्न है, दोनों के चरित्र में कोई उल्लेखनीय बात नज़र नहीं आती, क्योंकि इन दोनों बहनों ने विरहाग्नि को सहन नहीं किया। इस दृष्टि से बाल-वियोगिनी देवी उर्मिला का चरित्र प्रत्येक दृष्टि से गेय और आलेख्य है। लेकिन वाल्मीकि जैसे प्रतिभा-सम्पन्न कवि ने भी उसकी ओर कोई ध्यान न देकर उसके साथ अन्याय किया। द्विवेदी इसके लिए कवि को दोषी मानते हैं। लेखक के अनुसार उर्मिला का नाम न केवल सुन्दर और मधुर है, बल्कि कानों को भी सुख देने वाला है। भले ही तपस्वियों का जीवन कठोर और कर्कश होता हो, लेकिन वाल्मीकि कठोरता-प्रेमी कदापि नहीं थे। अतः इस सन्दर्भ में उर्मिला के भाग्य को दोष दिया जा सकता है, क्योंकि परम दयालु वाल्मीकि ने भी उसकी उपेक्षा की।

लेखक वाल्मीकि को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि आपने जनकपुर में एक बार उर्मिला को विवाह के पश्चात् वधूवेश में दिखाया। इसके बाद तो मानो आप चुप ही होकर बैठ गए। ससुराल में तो इसकी याद आपको आई ही नहीं, परन्तु दुःख तो इस बात का है कि वन प्रस्थान के समय भी उर्मिला का रोना-धोना आपको उचित नहीं लगा। जब रामचन्द्र का राज्याभिषेक होने जा रहा था, उस समय सारा नगर नन्दन वन के समान बड़ा ही सुन्दर लग रहा था। उस समय उर्मिला कितनी खुश हो रही होगी, इसकी ओर भी आपका ध्यान नहीं गया। परम आराध्य राम को राज्य-सिंहासन पर आसीन देखकर उर्मिला को कितना आनन्द हुआ होगा, इसका भी आपने अनुमान नहीं लगाया, लेकिन थोड़े समय के बाद ही जब उर्मिला ने अपने पति को राम-सीता के साथ वन-प्रस्थान करते हुए देखा होगा और वह पेड़ की टूटी हुई शाखा के समान राजमहल की एक अलग-थलग कोठरी में भूमि पर लेट गई होगी, इसकी तरफ भी आपने कोई ध्यान नहीं दिया। उर्मिला तो सीता की छोटी बहन थी और लक्ष्मण की पत्नी थी, सो उसे दोनों का दुःख सहन करना पड़ा। आपने तो वन-प्रस्थान करते समय लक्ष्मण को तनिक उसे देखने का भी अवसर नहीं दिया। जब राम, लक्ष्मण और सीता वनवास पंर जाने लगे तो सारी अयोध्यानगरी अंधकार में डूब गई। नगर निवासी दुःख रूपी सागर में निमग्न हो गए। उधर राजा दशरथ का देहान्त हो गया, लेकिन आपने एक बार भी उर्मिला के दुःख की ओर ध्यान नहीं दिया। आपने अपने महाकाव्य में यह सूचना नहीं दी कि उस समय उर्मिला की क्या हालत थी और वह कहाँ पड़ी थी। आपने उर्मिला के प्रति यह घोर उपेक्षा क्यों अपनाई?

भ्रातृस्नेह के कारण लक्ष्मण ने बड़े भाई का साथ निभाया। राजमहल के सभी सुखों को छोड़कर उसने अपना शरीर राम को अर्पित कर दिया। सचमुच यह बहुत बड़ी बात थी, लेकिन उर्मिला ने इससे भी बढ़कर आत्म-त्याग किया। उसे अपनी आत्मा की अपेक्षा पति से अधिक प्यार था और उसने अपने पति को राम-सीता को सौंप दिया। ऐसा उसने तब किया जब वह हाल ही में लक्ष्मण से विवाह करके राजमहल में आई थी। उसने अपने साँसारिक सुखों का सबसे बड़ा भाग राम और सीता को अर्पित कर दिया। विवाह से उत्पन्न उसे जो सुख मिलने जा रहा था, वह चौदह वर्ष के वियोग के बाद मिलने वाले सुख से कहीं बढ़कर था, लेकिन उस नवोढ़ा विवाहित युवती ने अपने जीवन का सर्वस्व राम-सीता को दे दिया, लेकिन आदि कवि वाल्मीकि ने उसकी न केवल उपेक्षा की, बल्कि उसकी अवहेलना भी की। सीता के समान उर्मिला को भी पति-प्रेम और पति-पूजा की शिक्षा प्राप्त हुई थी। यही कारण है कि मानस में सीता कहती भी हैं—

जहँ लगि नाथ नेह अरू नाते।
पिय बिनु तयहिं तरनि ते ताते।।

निश्चय से उर्मिला में भी यही भावना थी, क्योंकि वह उसी घर की थी जिस घर की सीता देवी थी और वह अपने पति धर्म को भी अच्छी तरह जानती थी। उसने सोच-समझकर ही लक्ष्मण के साथ वन जाने का हठ नहीं किया। यदि वह साथ जाने के लिए तैयार हो जाती तो निश्चय से लक्ष्मण को संकोच होता और वह उर्मिला के कारण राम और सीता की ठीक से सेवा नहीं कर पाता। यही सोचकर उर्मिला ने सीता का अनुकरण नहीं किया। उर्मिला के चरित्र की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यही है। वाल्मीकि द्वारा उर्मिला के इस उच्चाशय की अवहेलना करना किसी भी सहृदय पाठक को आन्तरिक वेदना देने वाला है।

वाल्मीकि के समान तुलसीदास ने भी उर्मिला के साथ अन्याय ही किया। नाना-पुराण, निगम-आगम के अनुसार तुलसीदास ने रामचरितमानस की रचना की। इसलिए उन्होंने आदि काव्य का ही अनुकरण किया। उन्होंने भी चलते समय लक्ष्मण को उर्मिला से मिलने का अवसर नहीं दिया, बल्कि माता से मिलने के बाद वे सीधे राम और सीता के पास चले गए। लेखक गोस्वामी तुलसीदास को उलाहना देता हुआ कहता है कि आपने कमण्डलु के करुणा जल में से एक बूँद भी उर्मिला के लिए नहीं रखी, बल्कि सारा जल सीता को समर्पित कर दिया। कम-से-कम एक चौपाई में ही आप उर्मिला की दशा का वर्णन कर देते तो पाठकों को थोड़ी राहत मिल जाती। उन्हें पता चल जाता कि राम और सीता के वनवास पर जाते समय उर्मिला के मन में पति-वियोग को लेकर क्या-क्या भावनाएँ उत्पन्न हुई होंगी, लेकिन आप भी उर्मिला को विवाह के बाद अयोध्या में ले जाकर भूल गए, ये आपने उचित नहीं किया।

इस सन्दर्भ में संस्कृत कवि भवभूति ने थोड़ी कृपा अवश्य की है। जब राम, लक्ष्मण और सीता जी वन से लौट कर अयोध्या में आ गए तो कवि को इस बेचारी उर्मिला की तनिक याद आई। चित्र-फलक पर जब सीता ने उर्मिला का चित्र देखा तो उसने लक्ष्मण से पूछा कि यह दूसरी नारी कौन है? (इयमप्यपरा का?) सीता द्वारा देवर से इस प्रकार पूछना विशेष महत्त्व रखता है। इस कथन में थोड़ी सरसता भी उत्पन्न हो गई है। लक्ष्मण सीता जी के मंतव्य को समझ गए। इसलिए उसके प्रश्न का उत्तर दिए बिना उन्होंने उर्मिला के चित्र पर अपना हाथ रख दिया और उर्मिला का चित्र ढक गया। अन्त में लेखक अपना खेद व्यक्त करता हुआ करता है कि आज तक कवि लोग उर्मिला के उज्ज्वल चरित्र को ढकते चले आ रहे हैं।

◆◆◆

4. महावीर प्रसाद द्विवेदी के निबन्धों की शिल्पगत विशेषताओं का वर्णन कीजिए। **(Imp.)**

अथवा

'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' निबन्ध की तात्विक समीक्षा कीजिए।

उत्तर–महावीर प्रसाद द्विवेदी के निबंधों का शिल्पगत वैशिष्ट्य–हिन्दी निबन्ध के क्षेत्र में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का नाम विशेष महत्त्व रखता है। वे सरस्वती मासिक पत्रिका के सम्पादक थे और निबन्ध के क्षेत्र को उन्होंने समृद्ध और सम्पन्न बनाने का प्रशंसनीय प्रयास किया। उन्होंने समकालीन और परवर्ती निबन्धकारों को भी दिशा-निर्देश दिए। यही कारण है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य में उनके नाम से द्विवेदी युग जाना जाता है। जहाँ द्विवेदी जी ने अन्य हिन्दी लेखकों को सुन्दर और सजीव निबन्ध लेखन की प्रेरणा दी, वहाँ स्वयं भी सफल निबन्ध लिखे। उनके निबन्धों की संख्या काफी विशाल है। 'आधुनिक कविता', 'अपनी भाषा की रात', 'कालिदास', 'व्यास', 'कवि और कविता' आदि उन्होंने कुछ साहित्यिक निबन्ध लिखे। पुनः उन्होंने पुरातत्त्व को आधार बनाकर भारतीय शिल्प शास्त्र, कालिदास की जन्मभूमि, हिन्दुओं की प्राचीन शल्य-चिकित्सा, सोमनाथ के मन्दिर की प्राचीनता, कूच नामक प्राचीन राज्य आदि कुछ उल्लेखनीय निबन्ध लिखे। इसी प्रकार से उन्होंने कुछ ग्रन्थों पर परिचयात्मक निबन्ध लिखे तो दूसरी ओर कुछ चरित्र प्रधान भी निबन्ध लिखे। यही नहीं, उन्होंने कुछ ऐसे निबन्ध भी लिखे जिनमें विज्ञान की चर्चा की गई है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'देशभक्ति की बात', 'भारत में शिक्षा की दशा', 'मातृभाषा और अंग्रेजी', 'मातृभाषा के द्वारा शिक्षा प्राप्ति का महत्त्व', 'भारतीय सैनिकों की शूरवीरता' आदि विविध प्रकार के निबन्ध लिखे। वस्तुतः द्विवेदी जी ने साहित्य, जीवन चरित, इतिहास, भूगोल, विज्ञान, उद्योग, शिल्प, भाषा, समाज, अध्यात्म आदि विषयों से जुड़े हुए निबन्ध लिखे हैं, लेकिन द्विवेदी जी ने अधिकांशतः विचारात्मक निबन्ध ही लिखे हैं। ये हिन्दी पाठकों के ज्ञानवर्धन में सहायक हैं तथा उनकी रुचि को परिष्कृत करते हैं। तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार इन निबन्धों की अत्यधिक उपयोगिता थी। विद्वानों ने उनके निबन्धों को चार वर्गों में विभक्त किया है–

1. पत्रिकाओं के लिए लिखित लेख।
2. ग्रन्थों की भूमिकाएँ।
3. पुस्तकाकार प्रकाशित निबन्ध।
4. विभिन्न कार्यक्रमों पर दिए गए भाषण।

द्विवेदी जी के अधिकांश निबन्ध सरस्वती पत्रिका में प्रकाशित हुए थे। उनके निबन्धों की संख्या 300 के लगभग है। वे आज **'रसज्ञ-रंजन'**, **'लेखांजलि'**, **'संचयन'**, **'संकलन'**, **'अद्भुत-आलाप'**, **'साहित्य-सीकर'**, **'साहित्य-सन्दर्भ'**, **'समालोचना-समुच्चय'**, **'प्राचीन कवि और पण्डित'**, **'विचार-विमर्श'**, **'आलोचनांजलि'**, आदि निबन्ध संग्रह के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं।

निबन्ध के तत्त्वों के बारे में विद्वानों ने अपने अलग-अलग मत व्यक्त किए हैं। डॉ. दशरथ ओझा ने गद्य-रचना, लेखक का व्यक्तित्व, विचारों की एकसूत्रता, सहज रोचकता, भावों का पुट तथा औपचारिकता का अभाव आदि निबन्ध के छः तत्त्व माने हैं। इधर दान बहादुर पाठक ने निबन्धकार का व्यक्तित्व, विषय स्वतन्त्रता, आकार लघुता तथा सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति, विचारों की स्वाधीनता तथा अनेकता में एकता, निजी अनुभूति का प्रकाशन, भावुक प्रवणता तथा सजीव भाषा-शैली तथा सहज प्रभावोत्पादकता आदि निबन्ध के सात तत्त्व स्वीकार किए हैं, लेकिन कुछ अन्य आलोचकों ने निबन्ध के पाँच ही तत्त्व माने हैं। ये हैं–बुद्धि तत्त्व, अनुभूति तत्त्व, कल्पना तत्त्व, अहम् तत्त्व (वैयक्तिकता का उद्घाटन) तथा शैली तत्त्व। जहाँ तक निबन्धकार के निबन्धों के वैशिष्ट्य का प्रश्न है इन तत्त्वों में कुछ अन्य विशेषताएँ भी जोड़ी जा सकती हैं। इसी सन्दर्भ में हम आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के निबन्धों का विवेचन करेंगे।

आचार्य महावीर प्रसाद के निबंधों का शिल्पगत वैशिष्ट्य

1. बुद्धि तत्त्व
2. अनुभूति तत्त्व
3. कल्पना तत्त्व
4. अहम् तत्त्व (वैयक्तिकता का उद्घाटन)
5. शैली तत्त्व
6. भाषा

1. बुद्धि तत्त्व—पहले बताया जा चुका है कि द्विवेदी जी ने प्रायः विचारात्मक निबन्ध ही लिखे हैं, इसलिए उनके निबन्धों में बौद्धिक विवेचन की प्रधानता है। किसी निबन्ध में वे किसी विषय की व्याख्या करते हैं तो किसी निबन्ध में समीक्षा करते हैं। कहीं विवेचना करते हैं तो कहीं आलोचना। यही नहीं, वे विषय की परिभाषा देते हुए उसकी व्युत्पत्ति पर विचार करते हैं। आवश्यकता पड़ने पर वे अपना अभिमत भी प्रकट करते हैं और कहीं तो वे निर्णयात्मक शैली में विषय-वस्तु की विवेचना करते हैं। इन सभी विचारात्मक निबन्धों में बुद्धि तत्त्व की प्रधानता ही देखी जा सकती है। 'साहित्य की महत्ता' नामक निबन्ध में वे साहित्य की विवेचना करते हुए अपने मौलिक विचार प्रकट करते हैं। "ज्ञान राशि में संचित कोष का नाम साहित्य है, सब तरह के भावों को प्रकट करने की योग्यता रखने वाली और निर्दोष होने पर भी यदि कोई भाषा अपना निज का साहित्य नहीं रखती तो वह रूपवती भिखारिणी की तरह कदापि आदरणीय नहीं हो सकती। उसकी शोभा, उसकी सम्पन्नता, उसकी मान-मर्यादा उसके साहित्य पर भी अवलम्बित रहती है। जाति-विशेष के उत्कर्षापकर्ष का, उसके उच्च-नीच भावों का, उसके धार्मिक विचारों और सामाजिक संगठन का, उसके ऐतिहासिक घटनाचक्रों और राजनैतिक स्थितियों का प्रतिबिम्ब देखने को यदि कहीं मिल सकता है तो उसके ग्रन्थ साहित्य में ही मिल सकता है।

इसी प्रकार से द्विवेदी जी ने 'कवि-कर्तव्य' नामक निबन्ध में कवियों के कर्तव्य की विवेचना की है और यह समझाने का प्रयास किया है कि गद्य और पद्य की भाषा एक ही होनी चाहिए। कवि को अपनी रचनाओं में शुद्ध, मुहावरेदार, सरल और विषयानुकूल भाषा का प्रयोग करना चाहिए। उनका कहना है कि कवि को ऐसी भाषा लिखनी चाहिए कि उसे पाठक समझ सके और उसके अर्थ को ग्रहण कर सके। इसी प्रकार से 'कवि और कविता' नामक निबन्ध में द्विवेदी जी ने स्पष्ट किया है कि कविता अन्तःकरण की प्रवृत्तियों का चित्र है और उसमें सादगी, असलियत और जोश तीनों गुण होने चाहिएँ। **"सादगी, असलियत और जोश, यदि ये तीनों गुण कविता में हों तो कहना ही क्या है। परन्तु बहुधा अच्छी कविता में भी इनमें से एक आदि गुण की भी कमी पाई जाती है। कभी-कभी देखा जाता है कि कविता में केवल जोश रहता है, सादगी और असलियत नहीं। परन्तु बिना असलियत के जोश का होना बहुत कठिन है। अतएव कवि को असलियत का सबसे अधिक ध्यान रखना चाहिए।"**

2. अनुभूति तत्त्व—द्विवेदी जी अपने समय की परिस्थितियों को अच्छी प्रकार से जानते थे। उनके पास जीवन और जगत् का पर्याप्त अनुभव था। इसलिए वे संसार के घटनाचक्र से पूर्णतया अवगत थे। उन्होंने अपने जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव देखे। सुख-दुःख, उन्नति-अवनति, ह्रास-विकास आदि स्थितियाँ उनके जीवन के साथ भी जुड़ी हुई थीं। इसलिए द्विवेदी जी की गहन अनुभूति उनके निबन्धों में यत्र-तत्र देखी जा सकती है। जहाँ कहीं वे अपने निबन्धों में अनुभूति तत्त्व का समावेश करते हैं, वहाँ लेखक के कथन में मार्मिकता उत्पन्न हो गई है और उनकी अभिव्यक्ति में चमत्कार उत्पन्न हो गया है। 'अद्भुत इन्द्रजाल' नामक निबन्ध में वे अनुभूति तत्त्व का समावेश करते हुए लिखते हैं—**"किसी समय इस देश में इन्द्रजाल-विद्या का बड़ा प्राबल्य था। इस विषय के कितने ही ग्रन्थ संस्कृत में बन गए थे। उनमें से कई एक अब तक प्रचलित हैं। इस विद्या के बल से ऐन्द्राजालिक लोग**

अद्‌भुत-अद्‌भुत माया रचकर प्रेक्षकों को विस्मय में डाल देते थे। कापालिक लोगों का भी इस देश में, किसी समय बड़ा आधिक्य था। उन्होंने भी अनेक अद्‌भुत सिद्धियाँ प्राप्त करके अपना माहात्म्य बढ़ाया था। प्रेतों और पिशाचों को सिद्ध कर लेने वाले लोग अब तक जहाँ-तहाँ पाए जाते हैं। इस प्रकार के एक पिशाच-सिद्ध महात्मा हमारे जन्म-ग्राम के पास कुछ दूर पर गंगा के किनारे हो गए हैं। इस बात को थोड़े ही दिन हुए। उनके साथी अभी तक विद्यमान हैं। वह मरे हुए मनुष्यों को प्रत्यक्ष दिखला देते थे, यथेच्छ चीजों की वर्षा कराते थे, दूसरों के चित्त की बात बतला देते थे और जो चीज जहाँ से कहिए माँग देते थे।'' इसी प्रकार से 'पशुओं में बोलने की शक्ति' नामक निबन्ध में भी अनुभूति तत्त्व का पर्याप्त प्रयोग किया गया है। द्विवेदी जी ने अपने युग में यह देखा और अनुभव किया कि हमारे देश के कुछ पढ़े-लिखे लोग अंग्रेजी सभ्यता से अत्यधिक प्रभावित थे। उनका विचार था कि ऐसे लोगों को यदि प्रजा का प्रतिनिधित्व करना है तो सर्वप्रथम उन्हें प्रजा की भाषा में बोलना चाहिए। वे अपनी अनुभूति के आधार पर लिखते हैं–**''गवर्नमेंट सच कहती है कि ये मुट्ठीभर अंगरेजीदाँ, सभाओं और कान्फ्रेंसों में जो कुछ कहते हैं, सब अपनी ही तरफ से कहते हैं। इनका वक्तत्त्व सर्वसाधारण का वक्तत्त्व नहीं। इसी से इनकी बातों का बहुत कम असर गवर्नमेंट पर पड़ता है। यदि ये लोग प्रजा के सच्चे प्रतिनिधि होना चाहते हैं तो इन्हें प्रजा की बोली बोलनी चाहिए। प्रजा जिस भाषा को समझे, उसी में अपने व्याख्यान देना या सुनाना चाहिए, देहात में घूम-फिरकर प्रजा का सच्चा हाल जानना चाहिए–उन्हें उन्हीं की भाषा में सदुपदेश और शिक्षा देनी चाहिए।''**

3. कल्पना तत्त्व–कल्पना तत्त्व निबन्धों के लिए एक नितान्त आवश्यक तत्त्व है। इसके बिना निबन्ध में रोचकता उत्पन्न नहीं हो सकती। जिस निबन्ध में कल्पना का प्रयोग नहीं किया जाता, वह नीरस और शुष्क बनकर रह जाता है। पाठक ऐसे निबन्धों को पढ़ना पसन्द नहीं करता। द्विवेदी जी ने अपने भावात्मक निबन्धों में कल्पना का सुन्दर प्रयोग किया है जिससे उनके निबन्धों में स्वतः चमत्कार उत्पन्न हो गया है। कहीं-कहीं तो वे अद्‌भुत मनोवृत्तियों, भावों और विचारों के मानसिक शब्द चित्र उत्पन्न कर देते हैं। यही नहीं, वे कल्पना के द्वारा परोक्ष का प्रत्यक्षीकरण कराने का भी प्रयास करते हैं। महाकवि माघ का 'प्रभात वर्णन' नामक निबन्ध में द्विवेदी जी ने कल्पना का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग किया है। ''रात अब बहुत ही थोड़ी रह गई है। सुबह होने में कुछ ही कसर है। जरा सप्तर्षि नाम के तारों को तो देखिए। वे आसमान में लम्बे पड़े हुए हैं। उनका पिछला भाग तो नीचे को झुका-सा है और अगला भाग ऊपर को। वहीं, उनके अधोभाग में छोटा-सा धुव्र-तारा कुछ-कुछ चमक रहा है। सप्तर्षियों का आकार गाड़ी के सदृश है–ऐसी गाड़ी के सदृश जिसका जुवाँ ऊपर को उठ गया हो।'' इसी प्रकार से कवि ने 'समर भूमि का दृश्य' नामक निबन्ध में भी कल्पना का चमत्कार प्रदर्शित किया है। द्विवेदी जी ने एक अन्य निबन्ध लिखा है–'मुँह में राम बगल में छुरा'। इसमें उन्होंने व्यंग्यात्मक शैली का प्रयोग करते हुए कल्पना का समुचित प्रयोग किया है। उदाहरण देखिए–**''यही लोग एशिया और अफ्रीका के निर्बल देशों के निवासियों से शपथपूर्वक कहते हैं–भैया, तुम अभी नादान और नासमझ बच्चे हो। हम तुम्हें सभ्य, सच्चरित्र और सुशिक्षित बनाने आए हैं। अभी तुम शासन करने योग्य नहीं। हमसे सभ्यता सीखो और सुशिक्षा प्राप्त करो। तुम्हें राज-कार्य-पटु करके हम स्वयं ही अपने घर चले जाएँगे। निस्सन्देह! मेष-मण्डली की रक्षा और उन्नति करने का अधिकारी परम का अणिक श्रीमान् वृकराज-बहादुर से बढ़कर और कोई नहीं।''**

4. अहम् तत्त्व (वैयक्तिकता का उद्‌घाटन)–वैयक्तिकता निबन्ध का एक अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इसके प्रयोग से निबन्ध सरस, सरल और प्रभावोत्पादक बन जाता है। द्विवेदी जी के निबन्धों पर उनके व्यक्तित्त्व की गहरी छाप है। इसलिए उनके निबन्धों के विचारों को उनके व्यक्तित्त्व से अलग नहीं किया जा सकता। द्विवेदी जी के सभी निबन्धों के विचार मौलिक हैं, लेकिन शैली उनकी अपनी है। अन्य लेखकों की आशा को प्रकट करते हुए वे अपने व्यक्तित्त्व की छाप छोड़ जाते हैं। हम, मैं, मेरा भाव है आदि शब्दों के प्रयोग द्वारा वे अपनी बात कहना नहीं भूलते। 'आकाश में निराधार स्थिति' नामक निबन्ध में द्विवेदी जी का अहम् तत्त्व इस प्रकार से उद्‌घाटित हुआ है–**''हमने इस सभा को एक पत्र लिखा। हमने कहा कि आपके अद्‌भुत योगी-बंगाली बाबू–का यहाँ कोई नाम भी नहीं जानता, और योग-सिद्ध पुरुष यहाँ उतने ही दुर्लभ हैं, जितना कि पारस-पत्थर या संजीवनी बूटी या देवलोक का अमृत... यदि आप हमारे प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर भेजकर हमारा समाधान कर देंगे, तो हम आपकी सभा में जाकर योग सीखेंगे।''** इसी प्रकार के **'आर्यों की जन्मभूमि', 'विवाह-विषयक-विचार-व्यभिचार'** आदि निबन्धों में भी द्विवेदी जी ने निजी व्यक्तित्त्व को समाविष्ट किया है। जहाँ कहीं वे किसी पुस्तक अथवा लेखक की आलोचना करते हैं वहाँ पर भी वे अहम् तत्त्व का प्रयोग अवश्य करते हैं। द्विवेदी युगीन एक लेखक धर्मवीर पण्डित लेखराम जी आर्य ने स्वामी विरजानन्द पर जीवन-चरित लिखा। लेकिन इस निबन्ध में अनेक त्रुटियाँ थीं जिन्हें देखकर द्विवेदी जी लिखते हैं–**''छिः-छिः! कहाँ तो संयास-व्रत और कहाँ ऐसा जघन्य काम! किसी कौमुदी की बदौलत ही इस जूते-बाज स्वामी को अष्टाध्यायी पढ़ने की अक्ल आई, उसी के कर्ता का इतना अपमान! कृतघ्नता की हद हो गई। विवेक की इतिश्री हो गई! ऐसे ही ऋषिजनोचित कार्यों के उपलक्ष्य ने आर्यसमाज के अनुयायियों ने इस नेत्रहीन वैयाकरण को ऋषि की पदवी दे डाली है।''**

5. शैली तत्त्व–द्विवेदी जी ने अपने निबन्धों में विविध प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया है। अपने ऐतिहासिक और भौगोलिक निबन्धों में उन्होंने वर्णनात्मक शैली का प्रयोग किया है। 'नेपाल', 'मालाबार', 'बनारस', 'सांची के पुराने स्तूप' आदि इसी प्रकार के निबन्ध हैं। वे कथात्मक निबन्धों में अकसर कथा शैली का प्रयोग करते हैं। इसके अन्तर्गत वे विविध घटनाओं, तथ्यों, यात्राओं, संस्थाओं आदि का वर्णन करते हैं। पुनः द्विवेदी जी ने वर्णनात्मक शैली का प्रयोग करते हुए आत्म कथात्मक निबन्धों की भी रचना की है। यही नहीं, जीवन-चरितों में भी उन्होंने इसी वर्णनात्मक शैली का प्रयोग किया है। पुनः द्विवेदी जी भावात्मक शैली का प्रयोग करते हुए भावों की रमणीयता और विचारों की सरस अभिव्यक्ति पर अधिक बल देते हैं। अनुमोदन का अन्त, सम्पादक की विदाई, महाकवि माघ का प्रभात वर्णन, कालिदास के समय का भारत आदि इसी प्रकार के निबन्ध हैं। यही नहीं, द्विवेदी जी ने व्याख्यात्मक, आलोचनात्मक, चिंतनात्मक परिचयात्मक, खंडनात्मक तथा व्यंग्यात्मक शैलियों का भी सफल प्रयोग किया है। डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना ने द्विवेदी जी के बारे में उचित ही लिखा है–**''अतएव द्विवेदी जी की शैली में आचार्यत्व की छाप है, पथ-प्रदर्शक का आलोक है, ज्ञानवर्धन का गुण है, रुचि-परिष्कार की शक्ति है, आत्माभिव्यंजना की अपूर्व क्षमता है, जनता के प्रश्नों का समाधान करने की सामर्थ्य है, सामयिकता की रक्षा करने का साहस है और हिन्दी पाठकों के बौद्धिक विकास के लिए अदम्य उत्साह है। इतना ही नहीं, द्विवेदी जी की शैली भाषागत अशुद्धियों से लेखक को सावधान करने वाली है, हिन्दी-भाषा को व्याकरण सम्मत बनाने वाली है, कठिन-से-कठिन विषय को भी सरलता से समझने वाली है, नपे-तुले वाक्यों में किसी विषय का प्रतिपादन करने वाली है, विपक्षियों को भी कायल करने वाली है, नए-नए निबन्धकारों को जन्म देने वाली है, आलोचनाओं के द्वारा नश्तर का काम करने वाली है, सुन्दरतापूर्वक खरी और लगती हुई बातें कहने वाली है तथा भाषा एवं साहित्य को उन्नति की ओर अग्रसर करने वाली है।''**

6. भाषा–वस्तुतः द्विवेदी जी ने खड़ी बोली की खड़खड़ाहट को दूर करके उसे साहित्यिक जामा पहनाया। सरस्वती पत्रिका तथा द्विवेदी जी के निबन्धों के कारण हिन्दी भाषा उत्तरोतर शुद्ध, समृद्ध और व्याकरण सम्मत होती चली गई। द्विवेदी जी स्वयं संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे, लेकिन उन्होंने अपने निबन्धों में संस्कृत के साथ-साथ उर्दू, फारसी तथा अंग्रेजी के लोक प्रचलित शब्दों का भी खुलकर प्रयोग किया है। 'रसज्ञ-रंजन' में वे लिखते भी हैं–''हिन्दी और उर्दू में कुछ शब्द अन्य भाषाओं के आ गए हैं। वे यदि बोलचाल के हैं तो उनका प्रयोग सदोष नहीं माना जा सकता। उनको उन्हें काव्य नहीं समझना चाहिए। कोई-कोई ऐसे शब्दों को मूल रूप में लिखना ही सही समझते हैं पर यह उनकी भूल है।'' द्विवेदी जी ने अपनी भाषा का हिन्दी की सूक्तियों और लोकोक्तियों से श्रृंगार किया और यत्र-तत्र मुहावरों का भी प्रयोग किया। उनकी भाषा पूर्णतया विषयानुकूल है। सरस्वती पत्रिका के सम्पादक होने के कारण धीरे-धीरे उनकी भाषा में निखार आता चला गया है, लेकिन हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि द्विवेदी जी ने अपने युग की हिन्दी भाषा का प्रयोग किया। जहाँ कहीं वे उर्दू शब्दों का अधिक प्रयोग करते हैं, वहाँ भी उनकी भाषा बड़ी आकर्षक लगती है। मेले के समय भाषण में वे लिखते हैं–**''परन्तु मेरी दरख्वास्त नामंजूर हो गई। काम ऐसे लोगों से पड़ गया, जिन्होंने मेरी दलीलों की धज्जियाँ उड़ा दीं, मेरे बहत मुबाहसे को जरा भी दाद न दी, मेरी मिन्नत आरजू कोधता बता दिया है। मैं हार गया और आज यह हार ही का नतीजा है जो मैं आपके सामने हाजिर किया गया हूँ।''** लेकिन द्विवेदी जी ने गम्भीर विवेचनात्मक तथा साहित्यिक निबन्धों में शुद्ध साहित्यिक खड़ी बोली का ही प्रयोग किया है, लेकिन इस प्रकार की भाषा में बोलचाल के शब्दों का मिश्रण भी देखा जा सकता है। संक्षेप में कह सकते हैं कि द्विवेदी जी की भाषा विकासोन्मुखी है तथा वह लोक रुचि तथा लोकमत का अनुसरण करने वाली है। द्विवेदी जी ने विविध प्रकार की भाषा का सफल प्रयोग किया है।

द्विवेदी जी के निबन्धों की प्रमुख विशेषताएँ ये हैं कि उनके निबन्ध मनोरंजक, संक्षिप्त, सरल और ज्ञानवर्धक हैं। उस समय के स्कूलों की माँग के अनुसार द्विवेदी जी ने सभी प्रकार के पाठकों के लिए विभिन्न प्रकार के निबन्ध लिखे। उनकी रचना पद्धति सामयिकता की रक्षा करती है, जनता के प्रश्नों का समाधान करती है और गद्य भाषा का परिष्कार करती है। द्विवेदी जी ने अपने निबन्धों के द्वारा हिन्दी पाठकों का पर्याप्त बौद्धिक विकास किया और उनका ज्ञानवर्धन किया। वे अकसर अन्य लेखकों की व्याकरणगत अशुद्धियों की ओर संकेत करके उन्हें सावधान करते रहते थे। उल्लेखनीय बात तो यह है कि वे कठिन-से-कठिन विषय को भी सरल और सुबोध बनाकर पाठकों के समक्ष रखते थे। द्विवेदी जी ने प्रायः व्यास शैली का अधिक प्रयोग किया है। इसके द्वारा वे तथ्य निरूपण की ओर अधिक ध्यान देते थे। डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना ने उनके निबन्धों के बारे में उचित ही लिखा है–**''सारांश यह है कि द्विवेदी जी नवोत्थानवादी प्रवृत्तियों के पुरस्कर्ता थे हिन्दी-गद्य के अध्वर्यु थे, सिद्धान्तवादी सम्पादक थे, विविध भाषा प्रयोगों के आविष्कर्ता थे, साहित्य-समीक्षा में समृद्धर्ता और नूतन भावाभिव्यक्ति से परिपूर्ण व्यावहारिक शैली के निर्माता थे। उन्होंने अपने निबन्धों द्वारा व्यावहारिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा साहित्यिक विवेचन को प्रश्रय प्रदान किया, देश-विदेशों में व्याप्त विचारों, धारणाओं, हलचलों, विविध गतिविधियों से हिन्दी-पाठकों को अवगत कराया और लोकमत एवं लोकरुचि का परिष्कार एवं संस्कार किया।''**

5. अध्यापक पूर्ण सिंह द्वारा रचित 'मजदूरी और प्रेम' निबन्ध का सार अपने शब्दों में लिखिए। **(Most. Imp.)**

अथवा

'मजदूरी और प्रेम' शीर्षक निबन्ध का प्रतिपाद्य/उद्देश्य अपने शब्दों में लिखिए।

उत्तर–मजदूरी और प्रेम : मूल प्रतिपाद्य–'मजदूरी और प्रेम' निबन्ध का प्रकाशन भाद्र सम्वत् 1966 (सितम्बर, 1912) में हुआ। इसके लेखक अध्यापक पूर्णसिंह हैं। इस निबन्ध को लेखक ने आठ उपशीर्षकों में विभक्त किया है–

(क) हल चलाने वाले का जीवन, (ख) गड़रिये का जीवन,
(ग) मजदूर की मजदूरी, (घ) प्रेम-मजदूरी,
(ङ) मजदूरी और कला, (च) मजदूरी और फकीरी
(झ) समाज का पालन करने वाली दूध की धारा और
(ज) पश्चिमी सभ्यता का एक नया आदर्श।

इस निबन्ध के द्वारा लेखक मजदूर के कर्म को महत्त्व देना चाहता है। लेखक चाहता है कि हम मजदूर के प्रति अपने दृष्टिकोण को बदलें और उसके प्रति सहानुभूति और प्रेम को व्यक्त करें। मजदूर को मजदूरी देकर ही हमारा कर्तव्य पूरा नहीं हो जाता, बल्कि उसके प्रति प्रेम-पूर्ण व्यवहार करना भी हमारा कर्तव्य है। अपने इसी मंतव्य को स्पष्ट करता हुआ लेखक कहता भी है–**''मुझे तो मनुष्य के हाथ से बने हुए कामों में उसकी प्रेममय पवित्र आत्मा की सुगन्ध आती है। हाथ की मेहनत से चीज में जो रस भर जाता है, वह भला लोहे की बनाई हुई चीज में कहाँ। जिस आलू को मैं स्वयं बोता हूँ, स्वयं पानी देता हूँ, जिसके इर्द-गिर्द की घास-पात खोदकर मैं साफ करता हूँ, उस आलू में जो रस मुझे आता है, वह टीन के बन्द किए हुए आचार-मुरब्बे में नहीं आता। मेरा विश्वास है कि जिस चीज से मनुष्य के प्यारे हाथ लगते हैं, उसमें उसके हृदय का प्रेम और मन की पवित्रता सूक्ष्म रूप से मिल जाती है और उसमें मुर्दों को जिन्दा करने की शक्ति आ जाती है।''**

अध्यापक पूर्ण सिंह विरचित निबंध 'मजदूरी और प्रेम' का प्रतिपाद्य हम निम्नलिखित बिंदुओं के अंतर्गत स्पष्ट कर सकते हैं–

मजदूरी और प्रेम : मूल प्रतिपाद्य
↓
1. किसान के जीवन का वर्णन
↓
2. गड़रिये का जीवन
↓
3. मजदूर की मजदूरी
↓
4. मजदूरी और कला
↓
5. मजदूरी और फकीरी
↓
6. समाज का पालन करने वाली दूध की धारा
↓
7. पश्चिमी सभ्यता के एक नए आदर्श

1. किसान के जीवन का वर्णन—सबसे पहले लेखक ने खेतों में हल चलाने वाले किसान के जीवन का वर्णन किया है। लेखक किसान को स्वभाव से साधु और त्यागी सिद्ध करता है। खेतरूपी यज्ञशाला में वह अपने जीवन का होम करता है और अपनी मेहनत के कणों को फसल के रूप में उगाता है। खेती उसके ईश्वरीय प्रेम का केन्द्र है। हम वृक्षों के फूल-पत्तों तथा फल-फूलों पर उसके जीवन को बिखरा हुआ देखते हैं। खेतों में काम करता हुआ वह शुद्ध वायु, जल, पृथ्वी और तेज को प्राप्त करता है। इसीलिए वह हमेशा निरोग रहता है। वह किसी धर्म स्थान पर पूजा करने नहीं जाता, बल्कि खेतों को ही मन्दिर मानकर कृषि कर्म द्वारा अपनी पूजा को व्यक्त करता है। किसान बड़ा ही सरल, सज्जन और निश्चल होता है। वह दया, वीरता और प्रेम की साक्षात् मूर्ति है। वह प्रकृति की पूजा करता है। प्रकृति उसे अपना अक्षय भण्डार सौंप देती है। लेखक किसान को बेमुकुट का भोपाल, सच्चा फकीर, गायों का मित्र, बैलों का हमजोली, पक्षियों का हमराज, महाराजाओं का अन्नदाता, बादशाहों को ताज पहनाने वाला, भूखे-नंगों की पालना करने वाला और समाज का संरक्षक कहलाता है।

2. गड़रिये का जीवन—किसान के पश्चात् लेखक गड़रिये के पावन जीवन पर प्रकाश डालता है। वह खुले आकाश में बैठकर ऊन कातता है और उसकी भेड़ें चरती रहती हैं। उसकी आँखों में हमेशा प्रेम दिखाई देता है, क्योंकि वह प्रकृति के स्वच्छ वातावरण में जीवन व्यतीत करता है। इसलिए उसका शरीर हमेशा निरोग रहता है। वह अपने परिवार के साथ मिलकर प्रकृति के खुले वातावरण में जीवन-यापन करता है। गड़रिये के बच्चे भी पावन हृदय लिए रहते हैं। वे साँसारिक प्रपंचों से दूर रहते हैं। गड़रिये और उसके परिवार का न कोई घर है, न मकान, न कोई शहर है। वे हमेशा घूम-फिरकर प्रकृति के सौन्दर्य का आनन्द लेते हैं। किसान के समान इनका जीवन भी निष्कपट होता है। ये आध्यात्मिक जीवन गुजारते हैं। यदि कोई भेड़ थोड़ी-सी बीमार हो जाती है तो ये व्याकुल हो जाते हैं। जब वह निरोग हो जाती है तो गड़रिया और उसका परिवार आनन्दपूर्वक उत्सव मनाते हैं। ये भी प्रकृति के पुजारी और उसी में ईश्वर के दर्शन करते हैं।

3. मजदूर की मजदूरी—मजदूर की मजदूरी का उल्लेख करते हुए अध्यापक पूर्णसिंह कहते हैं कि मजदूर सारा दिन घोर परिश्रम करता है, लेकिन हम उसकी मेहनत के अनुकूल उसे मजदूरी नहीं देते। यदि हम उसे अन्न अथवा धन देते हैं तो यह सब तो ईश्वर के दिए होते हैं जो हम उसे देते हैं। फिर भी हम सच्चे प्रेम द्वारा उसकी मजदूरी का ऋण चुका सकते हैं। यदि कोई अनाथ अथवा विधवा औरत सारी रात बैठकर किसी की कमीज सीती है या उसे सीते-सीते थक जाती है, लेकिन वह पैसे के लोभ में सोती तक नहीं है। अपनी नींद को त्यागकर ही वह अपना काम पूरा करती है। उसकी मेहनत का बदला हम थोड़े-से पैसों से कैसे चुका सकते हैं। इस सन्दर्भ में लेखक लिखता भी है—**"गाढ़े की एक कमीज को एक अनाथ विधवा सारी रात बैठकर सीती है, साथ ही साथ वह अपने दुःख पर रोती भी है—दिन को खाना न मिला। रात को भी कुछ मयस्सर न हुआ। अब वह एक-एक टाँके पर आशा करती है कि कमीज कल तैयार हो जाएगी, तब कुछ तो खाने को मिलेगा। जब वह थक जाती है तब ठहर जाती है। सूई हाथ में लिए हुए है, कमीज घुटने पर बिछी हुई है, उसकी आँखों की दशा उस आकाश के जैसी है जिसके बादल बरसकर अभी-अभी बिखर गए हैं। खुली आँखें ईश्वर के ध्यान में लीन हो रही हैं। कुछ काल के उपरान्त 'हे राम' कहकर उसने फिर सीना शुरू कर दिया।"**

लेखक का विचार है कि इस प्रकार की मेहनत किसी भी प्रार्थना, पूजा अथवा नमाज से कम नहीं मानी जा सकती। ईश्वर हमेशा मूक प्रार्थना को सुनता है। लेखक पुनः कहता है कि मानव के हाथ से बनी हुई वस्तुओं में प्रेममय पवित्र आत्मा निवास करती है। हाथ से जो परिश्रम किया जाता है, उसमें एक विचित्र रस है। उसमें जीवन का निवास है, हृदय का प्रेम है, मन की पवित्रता है, सेवा-भाव, चैतन्य और आनन्द है। इस आनन्द को हम हाथों से काम करने वाले कारीगरों के जीवन अथवा घर में देख सकते हैं। ये कारीगर अथवा मजदूर योगी की भाँति प्रेम के संयम से परिपूर्ण होकर हमेशा योग की साधना में लीन रहते हैं।

4. मजदूरी और कला—मजदूरी और कला की चर्चा करते हुए लेखक ने मशीनों के प्रयोग की निन्दा की है, क्योंकि ये मशीनें मजदूरों की मजदूरी को छीनती हैं। इसके बदले लेखक मजदूरों के हाथ से होने वाले काम को अत्यधिक महत्त्व प्रदान करता है जबकि मशीनें हमें निकम्मा और बेकार बनाती हैं। इसके मुकाबले में हाथ से काम करने पर मानव हमेशा मेहनती, उद्यमी और पवित्र रहता है। लेखक का विचार है कि मजदूर आजकल के ऋषि हैं और ये ही नए युग का निर्माण करेंगे। एक उदाहरण देता हुआ लेखक स्पष्ट करता है कि राफेल के चित्रों में पवित्र आत्मा के दर्शन होते हैं। लेकिन मशीन से निकले हुए फोटो निर्जीव से लगते हैं। होटल का भोजन प्रायः नीरस होता है, परन्तु किसी नारी के द्वारा प्रेमपूर्वक पकाए गए भोजन में जो मिठास होती है उसका तो वर्णन भी नहीं किया जा सकता। एक स्थल पर लेखक लिखता भी है—

"पश्चिम वालों के तो ये गले पड़ी हुई बहती नदी की काली कमली उन्हें नहीं छोड़ती। देखेंगे पूर्व वाले इस कमली को छाती से लगाकर कितना आनन्द अनुभव करते हैं। यदि हममें से हर आदमी अपनी दस उंगलियों की सहायता से साहसपूर्वक अच्छी तरह काम करे तो हम मशीनों की कृपा से बढ़े हुए परिश्रम वालों को वाणिज्य के जातीय संग्राम में सहज ही पछाड़ सकते हैं।"

5. मजदूरी और फकीरी—इस शीर्षक के अन्तर्गत अध्यापक पूर्णसिंह ने मजदूरी को मानव के विकास के लिए अत्यधिक आवश्यक माना है। लेखक का विचार है कि मजदूर और फकीर की क्रियाएँ परमार्थ के लिए ही होती हैं। जो व्यक्ति निष्काम भाव से मजदूरी करता है वह किसी फकीर की तपस्या से किसी प्रकार भी कम नहीं है। सच्चाई तो यह है कि मजदूरी और फकीरी एक-दूसरे पर निर्भर क्रियाएँ हैं। दोनों में आध्यात्मिकता देखी जा सकती है। मजदूर मजदूरी के लिए नहीं, बल्कि समाज के विकास के लिए परिश्रम करता है। इसी प्रकार सच्चा फकीर भी आत्ममोक्ष के साथ-साथ लोक-कल्याण के लिए तपस्या करता है। फकीर अपने जीवन का सार लोगों तक पहुँचाता है और उन्हें सच्चे मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है। गुरु नानक द्वारा पशुओं को चराना, रैदास द्वारा जूते बनाना और श्रीकृष्ण द्वारा गौवें चराना इसी तथ्य को प्रमाणित करते हैं।

6. समाज का पालन करने वाली दूध की धारा—इस शीर्षक के अन्तर्गत लेखक ने मेहनत करने तथा हाथ से काम करने वाली प्रवृत्ति को एक पवित्र दूध की धारा कहा है। यह धारा समाज का पालन करती है, मानव को हृदय से पवित्र बनाती है और सच्चे ऐश्वर्य को प्राप्त करने में सहायता करती है। लेखक का विचार है कि प्रिय मानव जाति का सुख ही संसार के मंगल का मूल साधन है। उसके बिना अन्य सारे उपाय व्यर्थ हैं। धन की पूजा करने से न तो सच्चा ऐश्वर्य मिलता है, न तेज और न बल। इस सन्दर्भ में वे कहते भी हैं—

"चैतन्य आत्मा की पूजा से ही ये पदार्थ प्राप्त होते हैं। चैतन्य-पूजा ही से मनुष्य का कल्याण हो सकता है। समाज का पालन करने वाली दूध की धारा जब मनुष्य के प्रेममय हृदय, निष्कपट मन और मित्रतापूर्ण नेत्रों से निकलकर बहती है जब वह जगत् में सुख के खेतों हो हरा-भरा और प्रफुल्लित करती है और वहीं उनमें फल भी लगाती है।"

7. पश्चिमी सभ्यता के एक नए आदर्श—इस शीर्षक के अन्तर्गत लेखक ने यह स्पष्ट किया है कि पहले-पहले पश्चिमी देश मशीनों के प्रयोग पर अधिक बल दे रहे थे। जिसके फलस्वरूप मजदूर लोग बेरोजगारी का शिकार बनने लगे, लेकिन अब वहाँ एक नए आदर्श का उदय होने लगा है। इसके फलस्वरूप पश्चिम के लोग अब मशीनों की बजाय मजदूरों को महत्त्व देने लगे हैं। पश्चिमी देश सब रस्किन और टॉलस्टाय के विचारों से प्रभावित हो चुके हैं। वे समझ चुके हैं कि मशीनें भयंकर गरीबी फैलाती हैं। अतः उनको हटाकर अब मजदूरों से काम करवाना हितकर है। लेखक स्वीकार करता है कि पश्चिमी देशों में भी मशीनों के कारण पूँजीवाद का विकास हुआ है, परन्तु मजदूर गरीब होता जा रहा है। निबन्ध के अन्त में लेखक हमें यही सलाह देता है कि हमें जड़ मशीनों की पूजा छोड़कर सचेतन मजदूरों को अपनाना चाहिए और उन्हें उचित महत्त्व प्रदान करना चाहिए। ऐसा करने से ही मानव का कल्याण होगा और हमारा समाज समृद्ध बनेगा। एक स्थल पर लेखक लिखता भी है—**"चेतन से चेतन की वृद्धि होती है। मनुष्य को तो मनुष्य सुख दे सकता है। परस्पर की निष्कपट सेवा ही से मनुष्य जाति का कल्याण हो सकता है। धन एकत्र करना तो मनुष्य-जाति के आनन्द-मंगल का एक साधारण-सा महातुच्छ उपाय है।"**

◆◆◆

6. अध्यापक पूर्ण सिंह के निबन्धों की शिल्पगत विशिष्टता पर प्रकाश डालिए। **(Imp.)**

उत्तर—अध्यापक पूर्ण सिंह के निबंधों का शिल्पगत वैशिष्ट्य—निबन्ध गद्य-साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा है। इसमें लेखक किसी एक विषय पर अपने मौलिक विचार व्यक्त करता है। भले ही उसे विषय की पूर्ण जानकारी होती है, लेकिन वह अपना निजी दृष्टिकोण भी व्यक्त करता हुआ चलता है। निबन्ध के तत्त्वों के बारे में विद्वानों ने अपने अलग-अलग मत व्यक्त किए हैं। डॉ. दशरथ ओझा ने गद्य-रचना, लेखक का व्यक्तित्व, विचारों की एकसूत्रता, सहज रोचकता, भावों का पुट तथा औपचारिकता का अभाव आदि निबन्ध के छः तत्त्व माने हैं। इधर दान बहादुर पाठक ने निबन्धकार का व्यक्तित्व, विषय स्वतन्त्रता, आकार लघुता तथा सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति, विचारों की स्वाधीनता तथा अनेकता में एकता, निजी अनुभूति का प्रकाशन, भावुक प्रवक्ता तथा सजीव भाषा-शैली तथा सहज प्रभावोत्पादकता आदि निबन्ध के सात तत्त्व स्वीकार किए हैं। लेकिन कुछ अन्य आलोचकों ने निबन्ध के पाँच ही तत्त्व माने हैं। ये हैं—बुद्धि तत्त्व, अनुभति तत्त्व, कल्पना तत्त्व, अहम् तत्त्व (वैयक्तिकता का उद्घाटन) तथा शैली तत्त्व। जहाँ तक निबन्धकार के निबन्धों के वैशिष्ट्य का प्रश्न है, इन तत्त्वों में कुछ अन्य विशेषताएँ भी जोड़ी जा सकती हैं। इसी सन्दर्भ में हम अध्यापक पूर्णसिंह के निबन्धों का विवेचन करेंगे।

अध्यापक पूर्ण सिंह के निबंधों का शिल्पगत वैशिष्ट्य

↓

1. बुद्धि तत्त्व

↓

2. अनुभूति तत्त्व

↓

3. कल्पना तत्त्व

↓

4. अहम् तत्त्व

↓

5. भाषा-शैली

1. बुद्धि तत्त्व–अध्यापक पूर्णसिंह ने प्रायः भावात्मक निबन्ध ही लिखे हैं, लेकिन भावों की प्रधानता होते हुए भी यत्र-तत्र बुद्धि तत्त्व भी विद्यमान है। वस्तुतः बौद्धिक विचारों के धरातल पर ही भावधारा बहती हुई अन्त तक चली जाती है। लेखक के विचार, मनन और चिन्तन के द्योतक हैं। लेखक के यह विचार सच्ची वीरता, कन्यादान की पद्धति, सच्चे आचरण, प्रेम और मजदूरी आदि से जुड़े हुए हैं। अध्यापक पूर्णसिंह त्याग, तपस्या और सच्ची वीरता के प्रेमी थे। एक स्थल पर देशवासियों को संबोधन करता हुए वे कहते भी है–'''**प्यारे, अन्दर के केन्द्र की ओर अपनी चाल उल्टो और इसी दिखावटी, बनावटी जीवन की चंचलता में अपने आपको न खो दो। वीर नहीं तो वीरों के अनुगामी हो और वीरता के काम नहीं तो धीरे-धीरे अपने अन्दर वीरता के परमाणुओं को जमा करो।''** इसी निबन्ध में लेखक अपने देशवासियों को नेक सलाह देता है कि वे नफरत और द्वैत की दृष्टि को छोड़कर प्रेम आनन्द से काम लें। इससे शान्ति की वर्षा होगी और सारे दुःख दूर हो जाएँगे। इसी प्रकार लेखक भारतवर्ष में प्रचलित कन्यादान की प्रथा को न्यायसंगत ठहराता है। इस सन्दर्भ में वह अपने विचार प्रकट करता हुआ कहता है–''**हे भारतवासियो! इस यज्ञ के महाकाव्य का आध्यात्मिक पवित्रता से अनुभव करो। इस यज्ञ में देवी और देवताओं को निमन्त्रित करने की शक्ति प्राप्त करो। विवाह का मखौल न जानो। यज्ञ का खेल न करो। झूठी खुदगर्जी की खातिर इस आदर्श को मटियामेट न करो। कुल जगत् के कल्याण की सोचो।''** लेखक का बुद्धि तत्त्व वहाँ निखर उठता है जहाँ वह भारतीय वाङ्मय से सुन्दर उदाहरण देकर पाठकों को सावधान करना चाहता है। ऐसे स्थलों पर अध्यापक पूर्णसिंह के विचार अत्यधिक प्रभावशाली होते हैं। एक उदाहरण देखिए–''**राजा जनक की सभा लगी है। ऋषि लोग बैठे हैं। ब्रह्मवादिनी गार्गी आँखों में कपिल वाली लाली लिए हुए आन खड़ी हुई है। सब आश्चर्यवत् हो गए। गार्गी नंगी है, पर बिजली के तीर से वह देवी कह उठी–जाओ अभी सब शूद्र हैं, चमार हैं। वह जा रही है। आकाश प्रणाम करता है, पृथ्वी काँप रही है।''** जहाँ कहीं लेखक किस्से-कहानियों के प्रसंग प्रस्तुत करता है, वहाँ उनके निबन्धों में चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। ऐसे स्थलों पर वे बड़ी सरलता और सफलता के साथ पाठकों तक अपने विचार पहुँचाते हैं। अध्यापक पूर्णसिंह ने बुद्धि तत्त्व के प्रयोग द्वारा अपने निबन्धों को अत्यधिक रोचक, तथ्यपूर्ण, व्यावहारिक, सारगर्भित तथा प्रभावोत्पादक बनाने का प्रयत्न किया है। शम्स तबरेज का एक प्रसंग देखिए–''**शम्स तबरेज को भी ऐसा ही काफिर समझकर बादशाह को दरवाजे पर आए हुए कुत्ते की तरह भिखारी समझकर वह खाल खाने के लिए दे दी। देकर वह अपनी यह गजल बराबर गाता रहा–''भीख माँगने वाला तेरे दरवाजे पर आया है; ऐ शाहेदिल! कुछ इसको दे दे। खाल उतारकर फेंक दी। वा रे सत्पुरुष।''**

2. अनुभूति तत्त्व–वस्तुतः अध्यापक पूर्णसिंह एक अत्यन्त भावुक और संवेदनशील निबन्धकार थे। इसलिए भावात्मक निबन्ध लिखने में उनको अत्यधिक सफलता प्राप्त हुई है। यही कारण है कि उनके निबन्धों में अनुभूति तत्त्व की प्रखरता, प्रबलता और बहुलता देखी जा सकती है। अनुभूति तत्त्व के कारण ही उनके निबन्ध अत्यधिक सजीव और सरल बन पड़े हैं। ऐसा लगता है कि मानो पाठक कोई गद्य काव्यात्मक रचना पढ़ रहा है। इस तत्त्व के कारण उनके निबन्धों से शुष्कता और नीरसता समाप्त हो गई है तथा सरलता, तरलता, सरसता एवं भावुकता का समावेश हो गया है। उनके निबन्धों में भावुकता की सरिता कल-कल का

4. कविता क्या है? : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

(Most. Imp.)

7. 'कविता क्या है' शीर्षक निबन्ध के प्रतिपाद्य को सार रूप में लिखिए।

अथवा

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध 'कविता क्या है' का सार संक्षेप में लिखिए।

उत्तर–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य के एक समर्थ निबन्धकार हैं। 'कविता क्या है' नामक निबन्ध चिन्तामणि भाग-1 में संकलित है। इसमें लेखक ने कविता की परिभाषा देते हुए कविता से जुड़े हुए विभिन्न विषयों का स्पष्टीकरण किया है। लेखक इसमें कविता की व्याख्या, उसकी विकसित स्थिति, स्वरूप तथा उद्देश्य पर प्रकाश डालता है। यह निबन्ध भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से एक सशक्त और प्रभावशाली निबन्ध है।

'कविता क्या है?' निबंध का प्रतिपाद्य हम निम्नलिखित बिंदुओं के अंतर्गत विवेचित कर सकते हैं–

कविता क्या है : मूल प्रतिपाद्य

↓

1. कविता की परिभाषा

↓

2. कविता का उद्देश्य

↓

3. कविता की अनिवार्यता

↓

4. कविता और सृष्टि का प्रसार

↓

5. प्रकृति वर्णन और बिम्ब ग्रहण

↓

6. मार्मिक तथ्यों का वर्णन

↓

7. काव्य और व्यवहार तथा मनुष्यता की उच्च भूमि

↓

8. कविता और मनोरंजन

↓

9. कविता और सौन्दर्य

↓

10. कविता की भाषा और अलंकार

1. कविता की परिभाषा—मनुष्य इस संसार में रहते हुए अपने भावों, विचारों और कार्यों का अन्य लोगों के साथ आदान-प्रदान करता है। इस तरह से वह काम करते हुए जीवन-यापन करता है। मानव के इस कार्य क्षेत्र को ही संसार कहते हैं। जब मानव अपने ही सुख-दुःख, हानि-लाभ, योग-भोग आदि की प्राप्ति में ही व्यस्त रहता है, तब तक उसका हृदय आत्म-सीमित संकुचित बना रहता है, लेकिन जब मानव अपने संकुचित दायरे से बाहर निकलकर अपने आपको भूलकर चैतन्य मात्र बन जाता है तो उसके क्षुद्र हृदय की सीमाएँ नष्ट हो जाती हैं और वह मुक्त हृदय कहलाने लगता है। शुक्ल जी ने हृदय की इसी अवस्था को रस दशा कहा है। जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है; उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस दशा कही जाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मानव की वाणी जो शब्द विधान करती आई है ,उसी को कविता कहते हैं। शुक्ल जी इस साधन को भाव-योग की संज्ञा देते हैं और इसे कर्मयोग तथा ज्ञान-योग के समकक्ष मानते हैं।

2. कविता का उद्देश्य—कविता के अनेक पहलुओं को स्पष्ट करते हुए शुक्ल जी ने कविता के उद्देश्य की भी चर्चा की है। उनका कहना है कि कविता ही मनुष्य को स्वार्थ की संचित भूमि से ऊपर उठाकर लोक सामान्य की भाव-भूमि पर ले जाती है। वहाँ पहुँचकर मानव कुछ समय के लिए अपने आपको भूल जाता है। वहाँ जगत की नाना गतियों में मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। जो व्यक्ति इस सामान्य भाव-भूमि पर पहुँच जाता है वह अपनी सत्ता को लोकसत्ता में लीन कर देता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति बन जाती है। लेकिन सभ्यता की वृत्ति के साथ-साथ जैसे-जैसे मनुष्यों के व्यापार अनेक रूप और जटिल होते चले गए, वैसे-वैसे कविता में भी परिवर्तन होता चला गया। सच्ची कविता पर प्रकाश डालते हुए शुक्ल जी लिखते हैं—**"काव्य के अर्थ ग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्ब ग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिम्ब ग्रहण निर्दिष्ट गोचर और मूर्त विषय का ही हो सकता है। 'रुपये का डेढ़ पाव घी मिलता है' इस कथन से कल्पना में यदि कोई बिम्ब या मूर्ति उपस्थित होगी तो वह तराजू लिए हुए बनिए की होगी जिससे हमारे करुणा भाव का कोई लगाव न होगा। बहुत कम लोगों को घी खाने को मिलता है। अधिकतर लोग रूखी-सूखी खाकर रहते हैं। इस तथ्य तक हम अर्थ ग्रहण परम्परा द्वारा इस चक्कर से पहुँचते हैं—एक रुपये का बहुत कम घी मिलता है, इससे रुपये वाले ही घी खा सकते हैं, पर रुपये वाले बहुत कम हैं, इससे अधिकांश जनता घी नहीं खा सकती, रूखी-सूखी खाकर रहती है।"**

शुक्ल जी का कथन है कि काव्य हमारे मनोविकारों का परिष्कार करता है और शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्धों को जोड़ता है। काव्य मानव के संसार के विभिन्न रूपों से हमें जोड़ता है। अतः काव्य मानव-मन के मूल भावों का स्पष्टीकरण करने में सहायक है। प्रकृति के विभिन्न रूप तथा उपकरण मानव-जीवन से चिरकाल से जुड़े हुए हैं। प्रकृति के मूलरूप और उसकी क्रियाएँ मानव को अपनी ओर आकर्षित करती रहती हैं। इसलिए प्रकृति ही मानव भावों को सक्रिय करती है और उसे प्रेरणा देती है।

3. कविता की अनिवार्यता—संसार में जैसे-जैसे सभ्यता का विकास हुआ, वैसे-वैसे मानव के व्यापारों में भी वृद्धि होती चली गई। फलस्वरूप मानव का मूल रूप सभ्यता के आवरण से दब गया। बुद्धि के व्यापारों के कारण मानव के चिन्तन में निरन्तर परिवर्तन होता चला गया और उनका रूप जटिलतम होता चला गया। लोभ, क्रोध, घृणा आदि भावों के विषय भी अपने मूल रूप से अलग होने लगे। पहले-पहल भय का सम्बन्ध मानव शरीर और उसकी संतति रक्षा से था। सभ्यता के विकास के साथ-साथ वह धन, मान और अधिकार आदि की रक्षा में भी सक्रिय रहने लग गया। अमूर्त विषय भी भावों के विषय बनने लगे। यहाँ तक कि सभ्यता-जन्य मलिन व्यापारों के साथ बुद्धि तत्त्व जुड़ने लगा, लेकिन इन व्यापारों में उत्पन्न हुई जटिलता के पीछे मूल रूप हमेशा विद्यमान रहे हैं। कवि और कविता का मुख्य काम यही है कि वह भावों के मूल रूपों पर पड़े हुए सभ्यता के आवरण को हटाए और उनको मूल रूप में प्रस्तुत करे। कविता का काम यही है कि वह हमारी परिवर्तित परिस्थितियों के मूल रूप से हमें अवगत कराए। शुक्ल जी का कथन है कि कविता किसी भाव या वस्तु को ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत नहीं करती। यही कारण है कि कविता का यथार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। भावों के अमूर्त विषयों की गहराई में मूर्त और गोचर रूप छिपे रहते हैं। कवि का कर्म यह है कि वह उन मूल रूपों का उद्घाटन करे क्योंकि मूर्त और गोचर रूपों के बिना कविता लिखी ही नहीं जा सकती। कविता का सम्बन्ध अर्थ ग्रहण करने मात्र से नहीं है, बल्कि बिम्ब ग्रहण से है।

4. कविता और सृष्टि का प्रसार—कवि अपनी कविता के द्वारा बाह्य प्रकृति के साथ-साथ मानव की अन्तःप्रकृति का सामंजस्य स्थापित करता है। इसलिए काव्य का क्षेत्र बहुत व्यापक है। शुक्ल जी ने उसे तीन क्षेत्रों में विभक्त किया है। ये हैं—नरक क्षेत्र, मानवेतर बाह्य सृष्टि और समस्त चराचर। संसार का अधिकांश काव्य मानव-जीवन से सम्बन्धित है। प्रायः कवि लोग मानव के भौतिक सौन्दर्य और भीतरी सौन्दर्य का उद्घाटन करने में सक्रिय रहे हैं। उदाहरण के रूप में प्राचीन काव्यों में नरक क्षेत्र को अधिक महत्त्व दिया गया। लेकिन बीच-बीच में मानवेत्तर बाह्य सृष्टि और समस्त चराचर के भी वर्णन किए गए। यद्यपि प्रकृति वर्णन में भी कवियों का मन रमा, लेकिन वे प्रकृति के उद्दीपन रूप को ही अधिक महत्त्व देते रहे। यही नहीं, प्राकृतिक उपमानों को भी विशेष महत्त्व दिया गया। यह सब नरक सम्बन्धी भावना को तीव्र करने के लिए किया गया।

5. प्रकृति वर्णन और बिम्ब ग्रहण—प्रकृति का आलम्बन रूप में वर्णन संस्कृत काव्यों में अपेक्षाकृत अधिक हुआ है, लेकिन शुक्ल जी प्रकृति चित्रण में अर्थ ग्रहण की अपेक्षा बिम्ब ग्रहण को अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। उनके विचारानुसार व्यवहार तथा शास्त्र चर्चा में अर्थ ग्रहण को अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए। बिम्ब ग्रहण में जब कवि का मन रमता है तभी वह आलम्बन रूप में प्रकृति का वर्णन करता है। वाल्मीकि रचित रामायण और कालिदास द्वारा रचित कुमारसम्भव तथा मेघदूत जैसे काव्यों में प्रकृति का इसी प्रकार का वर्णन देखने को मिलता है। मेघदूत में तो कवि की सृष्टि अपनी प्रिय भारतभूमि की रूप माधुर्य पर केन्द्रित रही है। सच्चे कवि का हृदय प्रकृति के सब रूपों में लीन होता है, क्योंकि उसके अनुराग का कारण निजी सुख न होकर साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना है। पाठक का मन प्रकृति के सुन्दर रूपों में ही रमता है। साहचर्य से उत्पन्न प्रेम के फलस्वरूप सीधे-सादे चिर-परिचित प्राकृतिक दृश्य भी अपूर्व आनन्द प्रदान करते हैं। सच्ची सहृदयता की पहचान असाधारण में रुचि रखना नहीं है। जो लोग प्रकृति में अपने विलास अथवा शारीरिक सुख को खोजते हैं, उनमें रागात्मक 'सत्व' की कमी होती है। सच्चा सुख उसे मिलता है जो सत्ता मात्र के साथ एकता की अनुभूति प्राप्त करता है। सभी सत्ताएँ परमसत्ता और सभी भाव एक ही परमभाव के अन्तर्भूत होते हैं। अतः बौद्धिक क्रिया हमारा ज्ञान जिस अद्वैत भूमि तक पहुँचाता है, हमारा भावात्मक हृदय भी उसी 'सत्व' रस को प्राप्त करता है। यही भक्ति के क्षेत्र का भाव है।

6. मार्मिक तथ्यों का वर्णन—शुक्ल जी प्रस्तुत निबन्ध में मार्मिक तथ्यों को ग्रहण करने के पक्ष में हैं। इसी को आधार बनाकर वे उक्ति-सूक्ति और कविता में अन्तर को स्पष्ट करते हैं। लेखक प्रकृति तथा उसमें रमण करने वाले जीवों के कुछ व्यापार उनके आन्तरिक भावों और तथ्यों की ओर संकेत करते हैं। काव्यानुभूति के द्वारा उन तथ्यों की मार्मिक अभिव्यंजना हो सकती है, सामान्य वर्णन द्वारा नहीं। सामान्य वर्णन तो केवल उक्ति या सूक्ति ही कहलाएगी। हमारे जीवन में भी कुछ प्राकृतिक भाव होते हैं और उनके साथ हमारा स्वाभाविक सम्बन्ध होता है। काव्य लिखते समय कवि को मानवेत्तर बाह्य सृष्टि के विभिन्न रूपों को भी देखना चाहिए। सजीव प्रकृति के साथ-साथ जड़ प्रकृति भी काव्य का विषय बन सकती है। यह पूरा संसार एक महाकाव्य है। इसकी भावनाएँ अथवा कल्पनाएँ प्रकृति की विभिन्न क्रियाओं से सम्बन्धित होती हैं। स्वार्थ भूमि से परे पहुँचा हुआ सच्ची अनुभूति वाला योगी ही इसे देख सकता है। नर क्षेत्र सम्पूर्ण जीवन क्षेत्र से आगे निकलकर जब समस्त सहचराचर के मार्मिक तथ्यों का वर्णन करता है, तभी उसका काव्य व्यापक और गम्भीर बनता है। जब हम अनन्त व्यक्त सत्ता के भीतर नर सत्ता का अनुभव करते हैं तब हमारे पाठक की बुद्धि का त्याग हो जाता है। यह कवि की उच्चतम भूमि है जहाँ पर कवि की वृत्ति शान्त और गम्भीर बन जाती है और उसकी अनुभूति का विषय भी बदल जाता है। हम रसात्मक तथ्यों को ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जान सकते हैं। इसी ज्ञान से कल्पना की उत्पत्ति होती है।

7. काव्य और व्यवहार तथा मनुष्यता की उच्च भूमि—शुक्ल जी का कहना है कि प्रवृत्ति का मूल कारण हमारे भाव हैं। हम केवल तर्क या बुद्धि आदि के बल पर ही किसी काम में संलग्न नहीं होते। अगर हम अन्तर्दृष्टि को गढ़ाकर देखें तो पता चलेगा कि अन्तःकरण के रागात्मक अंग हमें कर्म में प्रवृत्त करते हैं। इसीलिए भाव और बुद्धि दोनों ही मानव के कार्यों को चलाते हैं। शुद्ध ज्ञान से कर्म की उत्तेजना नहीं होती। कवि हमारे मन में वेग उत्पन्न करता है, हमारी भावना को उत्तेजित करता है। इसीलिए कविता का काम भावों का प्रसार करना है। यह हमारे कर्म क्षेत्र को विस्तार देती है। यही इसका महान् प्रयोजन है।

मानव पशु नहीं है वह एक सभ्य प्राणी है। पशुओं के समान वह सीमित आकर्षण या विकर्षण के क्षेत्र में बंधकर नहीं रह सकता, क्योंकि उसकी भावना का क्षेत्र व्यापक है। इस सम्बन्ध में शुक्ल जी लिखते भी हैं—"इस हृदय प्रसार का स्मारक स्तम्भ काव्य है जिसकी उत्तेजना से हमारे जीवन में एक नया जीवन आ जाता है।... कवि की वाणी के प्रसाद से हम संसार के सुख-दुःख, आनन्द-क्लेश आदि का शुद्ध स्वार्थ मुक्त रूप में अनुभव करते हैं। इस प्रकार के अनुभव के अभ्यास से हृदय का बन्धन खुलता है और मनुष्यता की उच्चभूमि की प्राप्ति होती है। भाव योग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य का जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है। उसकी सत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व हृदय हो जाता है।"

कवि पुनः स्पष्ट करता है कि भावना अथवा कल्पना द्वारा ही कवि काव्य की सामग्री प्राप्त करता है। इसलिए काव्य की सफलता बहुत कुछ कल्पना पर निर्भर है। लेकिन शीतल कल्पना वाले व्यक्ति के हृदय को कविता अधिक प्रभावित नहीं करती। कल्पना विधायक और ग्राहक दो प्रकार की होती है। विधायक कल्पना का सम्बन्ध कवि से है और ग्राहक कल्पना का सम्बन्ध श्रोता अथवा पाठक से है। शुक्ल जी कल्पना को केवल साधन मानते हैं, साध्य नहीं।

8. कविता और मनोरंजन—काव्य का अन्तिम लक्ष्य केवल मनोरंजन करना ही नहीं है बल्कि "जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य-हृदय का सामंजस्य स्थापन है।" मनोरंजन केवल कविता का साध्य ही नहीं हो सकता है। "कविता अपनी मनोरंजन शक्ति द्वारा पढ़ने या सुनने वाले का चित्र रमाएँ रहती है, जीवन पट पर एक उक्त कर्मों की सुदन्रता या विरूपता अंकित करके हृदय के मर्म-स्थलों का स्पर्श करती है।" इसी शक्ति को देखते हुए जगन्नाथ पण्डितराज ने 'रमणीयता' को

यूरोप के समीक्षाशास्त्रियों ने 'आनन्द' को कविता का चरम लक्ष्य माना है था, लेकिन शुक्ल जी इन सबका विरोध करते हैं।

9. कविता और सौन्दर्य—शुक्ल जी ने सौन्दर्य के दो रूप माने हैं—कर्म सौन्दर्य और आन्तरिक सौन्दर्य। सौन्दर्य प्रायः वस्तुगत होता है। वस्तु से अलग सौन्दर्य का कोई अस्तित्त्व नहीं हौता। यही कारण है कि सुन्दर वस्तुएँ हमें अपनी ओर आकर्षित लेती हैं। इस सन्दर्भ में शुक्ल जी कहते भी हैं—**''हमारी अन्तःसत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है। हमें ने मन का और अपनी सत्ता का बोध रूपात्मक ही होता है। जिस प्रकार की रूपरेखा या वर्ण-विन्यास से किसी की तदाकार णति होती है, उसी प्रकार की रूपरेखा या वर्ण-विन्यास उसके लिए सुन्दर है।''** मनुष्यता की सामान्य भूमि पर पहुँचकर संसार सभी सभ्य जातियाँ सौन्दर्य के सामान्य आदर्श की प्रतिष्ठा करती हैं। सौन्दर्य प्रायः अनुभूति की मात्रा में ही पाया जाता है। ा शुक्ल जी लिखते हैं—**''भक्त अपने आराध्य के सौन्दर्य की भावना में मगन होकर अपनी पृथक् सत्ता को भुला देता है। बाह्य -रूप के अतिरिक्त कर्म और मनोवृत्ति के मार्मिक रूपों की स्थापना करना कविता का एक कार्य है।''** हम जिन मनोवृत्तियों का ा रूप संसार में देखा करते हैं, कविता उनमें भी सुन्दरता खोज लेती है। रावण का वध करते समय राम के क्रोध के सौन्दर्य र कौन मोहित नहीं हो जाता। पुनः शुक्ल जी का कथन है कि जब बाह्य और आभ्यंतर दोनों प्रकार का सौन्दर्य मिल जाता तो वह सर्वांगीण सौन्दर्य का निर्माण करता है। काव्य में केवल दो ही पक्ष हैं—सुन्दर और कुरूप और इसके दो रूप हैं सुन्दर और असुन्दर। कवि की दृष्टि उधर ही जाती है जिधर उसे सौन्दर्य दिखाई देता है। वह वस्तुओं के रंग-रूप, मन, कर्म आदि में सौन्दर्य को देखता है। मानव के आन्तरिक और बाह्य सौन्दर्य के साथ-साथ जब बाह्य प्रकृति का सौन्दर्य जुड़ जाता है तो कविता का प्रभाव अत्यधिक बढ़ जाता है।

शुक्ल जी का कथन है कि कविता न तो मनोरंजन का साधन है और न ही इसका अलग से चमत्कार उत्पन्न करना है। शुक्ल जी ने भाव की अनुभूति को तीव्र करने के लिए ही उक्ति-वैचित्र्य के प्रयोग को उचित माना है। उनका कथन है कि उक्ति-वैचित्र्य ही केवल कविता नहीं है। शुक्ल जी ने सूक्ति और काव्य में भी अन्तर माना है। सूक्ति वही अच्छी है जो हृदय में कोई भाव जाग्रत करती है या पाठक अथवा श्रोता को प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर देती है। इस स्थिति में ही काव्य का सृजन होता है। इसके विपरीत उक्ति कथन के ढंग में अनूठापन, रचना वैचित्र्य, चमत्कार उत्पन्न करने में जो प्रवृत्त करती है, वह सूक्ति कहलाती है। शुक्ल जी उक्ति-वैचित्र्य के उसी अंश को काव्य के लिए स्वीकार्य मानते हैं जहाँ तक वह भावनुमोदित हो या किसी मार्मिक भाव या किसी अन्तर्बद्ध व्यक्ति से सम्बद्ध हो।

10. कविता की भाषा और अलंकार—कविता में केवल अर्थबोध का कोई महत्त्व नहीं है। वह तभी सार्थक है जब उसे बिम्ब ग्रहण होता है। अगोचर बातों या भावनाओं को गोचर रूप बनाने के लिए ही कवि भाषा की लक्षणा शक्ति का प्रयोग करता है। सभी देशों के कवि लक्षणा द्वारा भावों को सजीव आकार प्रदान करते हैं। जब कवि किसी वस्तु या तथ्य का पूर्ण प्रत्यक्षीकरण करता है तब उसे मार्मिक अन्तर्वृत्ति के अनुरूप भाव-व्यंजना के लिए लक्षणा का सहारा लेना पड़ता है। कवियों के लिए शुक्ल जी की सलाह है कि वे जाति संकेत वाले शब्दों की अपेक्षा विशेष रूप व्यापार सूचक शब्दों का अधिक व्यवहार करें। काव्य में पारिभाषिक शब्दावली का दोष अप्रतीत्व दोष है। शास्त्र सम्बन्धी किसी बात को स्पष्ट करने के लिए पारिभाषिक शब्दों के स्थान पर मार्मिक शब्दों का प्रयोग करता है तो वह भाव को पूर्ण रूप से स्पष्ट कर देता है। कविता की भाषा में वर्ण-विन्यास का भी विशेष महत्त्व है। इसके अतिरिक्त काव्य भाषा में मूर्त विधान के साथ-साथ काव्य-सौष्ठव भी होना चाहिए। इससे कविता की आयु बढ़ती है। इसी प्रकार व्यक्तियों के रूप, गुण या कार्य बोधक शब्दों का प्रयोग अर्थ गर्भित होने के कारण सुनने वाले की भावना के निर्माण में योग देता है। इस सन्दर्भ में गिरिधर, मुरारी, त्रिपुरारी आदि शब्दों के उदाहरण दिए जा सकते हैं। उदाहरण के रूप में विपत्तिग्रस्त व्यक्ति कृष्ण के लिए मुरलीधर की अपेक्षा यदि गिरिधर राज का प्रयोग करे तो वह अधिक तर्कसंगत होगा।

अलंकारों का प्रयोग प्रस्तुत भाव या भावना के उत्कर्ष साधन के लिए करना चाहिए, केवल सादृश्य दिखाने के लिए नहीं। यदि अलंकार भावना को उत्कर्ष प्रदान नहीं करते तो उनका प्रयोग व्यर्थ है। परन्तु जो चमत्कार को ही काव्य मानते हैं, वे अलंकारों को काव्य का सर्वस्व कहते हैं। उदाहरण के रूप में भरत मुनि ने काव्य में रस को प्रमुख माना था लेकिन भामा उद्भट आदि ने अलंकारों को प्रमुखता प्रदान की। बाद में अद्रट और मुहम्मद ने अलंकारवादियों का विरोध किया और विश्वनाथ तक आते-आते काव्य का प्रकृत स्वरूप उभरकर सामने आया। शुक्ल जी का कहना है कि अलंकार केवल शोभा को बढ़ा सकते हैं, उसे उत्पन्न नहीं कर सकते। वे लिखते भी हैं—**''सुन्दर वस्तु की शोभा बढ़ाने में जो अलंकार प्रयुक्त नहीं वे काव्यालंकार नहीं होते। वे ऐसे ही हैं जैसे शरीर पर से उतारकर किसी अलग कोने में रखा हुआ गहनों का ढेर। किसी भाव या मार्मिक भावना से असंपृक्त अलंकार चमत्कार या तमाशे हैं।''**

शुक्ल जी का कहना है कि कुछ लोभियों अथवा स्वार्थियों ने किसी की अधिक निन्दा की है और किसी की अत्यधिक प्रशंसा की है। ऐसे लोग ही कविता पर अत्याचार करते रहते हैं। ''ऐसी तुच्छ वृत्ति वालों का अपवित्र हृदय कविता के निवास

के योग्य नहीं है। कवि को जिनके रूप या कार्य-कलाप संसार और जीवन में सुन्दर दिखाई देते हैं, वह उन्हीं का वर्णन करने में स्वान्तः सुखाय प्रवृत्त हो जाता है। अतः हमें कविता के भावों को समझकर उसकी प्रशंसा करनी चाहिए। सोचे-समझे बिना किसी काव्य-रचना की निन्दा करना अनुचित है। अन्त में शुक्ल जी यह भी स्पष्ट करते हैं कि कविता हमारे समाज के लिए नितान्त आवश्यक है। शुक्ल जी लिखते भी हैं—**"मनुष्य के लिए कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार की सभ्य-असभ्य सभी जातियों में किसी-न-किसी रूप में पाई जाती है। .... बात यह है कि मनुष्य अपने ही व्यापारों का ऐसा सघन और जटिल मण्डल बाँधता चला आ रहा है जिसके भीतर बँधा-बँधा वह शेष सृष्टि के साथ अपने हृदय का सम्बन्ध भूला-सा रहता है। इस परिस्थिति में मनुष्य को अपनी मनुष्यता खोने का डर रहता है। इसी से अन्तःप्रकृति में मनुष्यता को समय-समय पर जगाते रहने के लिए मनुष्य जाति के साथ लगी चली जा रही है और चली चलेगी। जानवरों को ऐसी जरूरत नहीं।"**

◆◆◆

8. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबंधों के शिल्पगत वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालिए। (Most. Imp.)

अथवा

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों की तात्विक समीक्षा कीजिए।

उत्तर–आचार्य शुक्ल के निबंधों का शिल्पगत वैशिष्ट्य–निबन्ध के तत्त्वों के बारे में विद्वानों ने अपने अलग-अलग मत व्यक्त किए हैं। डॉ. दशरथ ओझा ने गद्य-रचना, लेखक का व्यक्तित्व, विचारों की एकसूत्रता, सहज रोचकता, भावों का पुट तथा औपचारिकता का अभाव आदि निबन्ध के छः तत्त्व माने हैं। इधर दान बहादुर पाठक ने निबन्धकार का व्यक्तित्व, विषय, स्वतन्त्रता, आकार लघुता तथा सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति, विचारों की स्वाधीनता तथा अनेकता में एकता, निजी अनूभति का प्रकाशन, भावुकता प्रवणता तथा सजीव भाषा-शैली तथा सहज प्रभावोत्पादकता आदि निबन्ध के सात तत्त्व स्वीकार किए हैं, लेकिन कुछ आलोचकों ने निबन्ध के पाँच तत्त्व माने हैं। ये हैं–बुद्धि तत्त्व, अनुभूति तत्त्व, कल्पना तत्त्व, अहम् तत्त्व (वैयक्तिकता का उद्घाटन) तथा शैली तत्त्व। जहाँ तक निबन्धकारों के निबन्धों की वैशिष्ट्य का प्रश्न है, इन तत्त्वों में कुछ अन्य विशेषताएँ भी जोड़ी जा सकती हैं। इसी सन्दर्भ में हम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों का विवेचन करेंगे।

शुक्ल जी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार, आलोचक सम्राट् और श्रेष्ठ साहित्येतिहास लेखक हैं। गद्य-लेखन में उनको विशेष सफलता प्राप्त हुई और उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य का पथ-प्रदर्शन किया। शुक्ल जी के निबन्ध चिन्तामणि भाग-1 और भाग-2 में संकलित हैं। 'कविता क्या है' नामक निबन्ध चिन्तामणि भाग-1 का एक महत्त्वपूर्ण निबन्ध है, जिसमें लेखक ने कविता के स्वरूप तथा उसके प्रयोजन पर समुचित प्रकाश डाला है। सुंगठित विचार, परम्परा, विषय प्रधानता, व्यक्ति प्रधानता, लोकवाद, मौलिक आत्माभिव्यक्ति, हास्य-व्यंग्य और विनोद, करुणात्मक विवेचना आदि उनके निबन्धों की कुछ उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं, लेकिन यहाँ हम निबन्धों के विभिन्न तत्त्वों के आधार पर शुक्ल जी के निबन्धों के वैशिष्ट्य का विवेचन करेंगे।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबंधों का शिल्पगत वैशिष्ट्य

↓

1. बुद्धि तत्त्व

↓

2. अनुभूति तत्त्व

↓

3. कल्पना तत्त्व

↓

4. अहम् तत्त्व

↓

5. शैली तत्त्व

1. बुद्धि तत्त्व–शुक्ल जी ने प्रायः विचार प्रधान निबन्ध लिखे हैं। इसलिए उनके निबन्धों में बुद्धि तत्त्व अपनी प्रौढ़ता, गहनता तथा उत्कृष्टता के साथ अभिव्यक्त हुआ है। वे अपने निबन्धों में विचारों का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए उनकी आन्तरिक और बाह्य भाव व्यंजना में भी सामंजस्य स्थापित कर देते हैं। उनके विचार एक के बाद दूसरे से इस प्रकार जुड़ जाते हैं कि मानो एक शृंखला-सी बन जाती है। उदाहरण के रूप में 'श्रद्धा भक्ति' नामक निबन्ध में पहले शुक्ल जी श्रद्धा की परिभाषा देकर उसके स्वरूप को समझाते हैं, फिर श्रद्धा और प्रेम में अन्तर स्पष्ट करते हैं तथा श्रद्धा के तीन भेद बताते हैं। यही नहीं, लेखक ने श्रद्धा और दया के अन्तर को स्पष्ट किया है और आगे चलकर श्रद्धा और प्रेम के योग को भक्ति कहा है। अन्त में वे भक्ति के स्वरूप को समझते हुए नवधा भक्ति और क्षात्र धर्म की व्याख्या करते हैं। इस प्रकार का विचारात्मक विवेचन उनके प्रत्येक निबन्ध में देखा जा सकता है। एक स्थल पर लोभ की परिभाषा देते हुए वे लिखते हैं–**''किसी प्रकार का सुख या आनन्द देने वाली वस्तु के सम्बन्ध में मन की ऐसी स्थिति को जिसमें उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही प्राप्ति, सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जग पड़े, उसे लोभ कहते हैं।''** भाव अथवा मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों के अतिरिक्त साहित्यिक निबन्धों में भी बुद्धि तत्त्व की प्रधानता देखी जा सकती है। 'कविता क्या है' नामक निबन्ध में कविता की परिभाषा देते हुए वे लिखते हैं–**''जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है; उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं।''** इसी प्रकार प्रभाव और प्रयोजन के बारे में वे लिखते हैं–**''कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत् नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है। इस भूमि पर पहुँचे हुए मनुष्य को कुछ काल के लिए अपना पता नहीं रहता। वह अपनी सत्ता को लोक सत्ता में लीन किए रहता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है। इस अनुभूति योग के अभ्यास से हमारे मनोविचारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है।''** इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्ल जी के निबन्धों में बुद्धि तत्त्व को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। इसी तत्त्व के कारण इनके निबन्ध हिन्दी साहित्य में विचार तत्त्व की अनुपम निधि कहलाते हैं।

2. अनुभूति तत्त्व–शुक्ल जी के निबन्धों में जिस प्रकार बुद्धि तत्त्व अपनी गम्भीरता के साथ विद्यमान है, उसी प्रकार अनुभूति तत्त्व भी अपनी प्रखरता और प्रौढ़ता के साथ प्रस्तुत है। शुक्ल जी ने अपने साहित्यिक और आलोचनात्मक निबन्धों में बुद्धि तत्त्व को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया था, लेकिन उनके भाव अथवा मनोविकास सम्बन्धी निबन्ध अपनी प्रौढ़ और प्रांजल अनुभूति के लिए प्रसिद्ध हैं। यहाँ लेखक ने अपनी वैयक्तिक और सामाजिक अनुभूतियों को कुशलतापूर्वक व्यक्त किया है। 'उत्साह' नामक निबन्ध से एक उदाहरण देखिए–**''जिस व्यक्ति या वस्तु पर प्रभाव डालने के लिए वीरता दिखाई जाती है, उसकी ओर उन्मुख कर्म होता है और कर्म की ओर उन्मुख उत्साह नामक भाव होता है। सारांश यह है कि किसी व्यक्ति या वस्तु के साथ उत्साह का सीधा लगाव नहीं होता। समुद्र लाँघने का विकट कर्म है। कर्म-भावना ही उत्साह उत्पन्न करती है; वस्तु या व्यक्ति की भावना नहीं।''** जहाँ कहीं शुक्ल जी व्यंग्य का सहारा लेते हैं, वहाँ उनकी गहन अनुभूति देखी जा सकती है। शुक्ल जी का कथन था कि रसखान तो किसी की 'लकुटी अरु कामरिया' तीनों कुलों का सिंहासन त्यागने को तैयार थे, लेकिन देश-प्रेम की दुहाई देने वाले किसी थके-मांदे भाई के फटे-पुराने कपड़ों और धूल भरे पैरों को क्या अपने घर में थोड़ा-सा स्थान देंगे। एक स्थल पर वे लाक्षणिक शब्दावली का प्रयोग करते हुए कहते हैं–**''मोटे आदमियो! तुम जरा-सा दुबले हो जाते–अपने अंदेशे से ही सही–तो न जाने कितनी ठठरियों पर माँस चढ़ जाता है।''** वस्तुतः वे अपने व्यंग्य चित्रों द्वारा ही यत्र-तत्र वैयक्तिक अनुभूतियों को व्यक्त करते हुए चलते हैं।

अन्यत्र शुक्ल जी ने प्रकृति चित्रण करते हुए अपनी गहन अनुभूति को व्यक्त किया है। प्रकृति वर्णन ही निबन्धकार की निजी अनुभूतियों को व्यक्त करने का अवसर प्रदान करता है। चिन्तामणि भाग–I से एक उदाहरण देखिए–**''अपने इधर-उधर हरी-भरी लहलहाती प्रफुल्लता का विधान करती हुई नदी की अविराम जीवनधारा में हम द्रवीभूत औदार्य का दर्शन करते हैं। पर्वत की ऊँची चोटियों में विशालता और भव्यता का; वात-विलोड़ित, जल-प्रसार में क्षोभ और आकुलता का; विकीर्ण-धन-खण्ड-मण्डित का; रश्मि-रंजित, सांध्य दिगांचल में चमत्कारपूर्ण सौन्दर्य का; ताप से तिलमिलाती धरा पर धूल झोंकते हुए अधड़ के प्रचण्ड झोंकों में उग्रता और उच्छृंखलता का; बिजली की कँपाने वाली कड़क और ज्वालामुखी के ज्वलंत स्फोट में भीषणता का आभास मिलता है।''**

3. कल्पना तत्त्व–शुक्ल जी ने स्वयं ही कल्पना को भावना माना है। चिन्तामणि भाग–I में लिखते भी हैं–**''जो वस्तु हम से अलग है, हमसे दूर प्रतीत होती है, उसकी मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना ही उपासना है। साहित्य वाले**

5: 'नाखून क्यों बढ़ते हैं?' : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

9. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबंध 'नाखून क्यों बढ़ते हैं?' निबन्ध का सार लिखिए।

अथवा

'नाखून क्यों बढ़ते हैं?' नाटक निबन्ध का प्रतिपाद्य अपने शब्दों में लिखिए। **(Most. Imp.)**

उत्तर–'नाखून क्यों बढ़ते हैं?' : मूल प्रतिपाद्य–प्रस्तुत निवन्ध डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी का एक उल्लेखनीय महत्त्वपूर्ण निबन्ध है। इसमें लेखक ने विवेचनात्मक शैली का प्रयोग करते हुए मानव द्वारा बनाए जा रहे संहारक अस्त्रों के प्रति अपनी चिन्ता व्यक्त की है। उन्होंने नाखून बढ़ने की प्रवृत्ति को पाश्विकता का प्रतीक माना है। एक दिन लेखक की छोटी लड़की ने उनसे पूछा कि आदमी के नाखून क्यों बढ़ते हैं? यह प्रश्न सुनकर लेखक पहले तो कुछ सोच ही नहीं पाया। हर तीसरे दिन ये नामुराद नाखून बढ़ जाते हैं। अगर बच्चे इन नाखूनों को न काटें तो माँ-बाप बच्चों को डांटते हैं, लेकिन इस बात को कोई नहीं जानता कि नाखून क्यों बढ़ते हैं। यदि हम नाखूनों को काट देते हैं तो ये चुपचाप इस दंड को सहन कर लेते हैं, परन्तु ये एक लज्जाहीन अपराधी के समान फिर से बढ़ने लगते हैं।

लेखक नाखूनों की उत्पत्ति और उपयोग पर प्रकाश डालता हुआ लिखता है कि लाखों वर्ष पहले मानव पूर्णतया जंगली था। उस समय नाखून उसकी जीवन रक्षा के साधन थे। नाखून ही आदमी के हथियार थे। दाँतों का स्थान नाखूनों के बाद था। जंगली

मानव को अनेक बार अपने शत्रुओं से लड़ना पड़ता था। इसके लिए वह अपने नाखूनों का प्रयोग करता था। आगे चलकर मानव पत्थर के टुकड़ों ओर पेड़ की शाखाओं से काम लेने लगा। इसके बाद मानव हड्डियों से हथियार बनाने लगा। इस सन्दर्भ में दधीचि मुनि की हड्डियों से बने हुए हथियार का भी लेखक ने वर्णन किया है, जिसे वज्र कहा गया है। तत्पश्चात् मानव ने धातु के हथियार बनाए। जिसके पास लोहे के अस्त्र और शस्त्र थे वे विजय प्राप्त करते थे। देवताओं के राजा ने मनुष्य के राजा से इसलिए सहायता ली, क्योंकि उसके पास लोहे के अस्त्र थे। असुरों के पास अनेक विद्याएँ थीं, लेकिन उनके पास न तो लोहे के हथियार थे और शायद घोड़े भी अच्छे नहीं थे। आर्यों की इसलिए विजय हुई क्योंकि उनके पास दोनों चीजें थीं। इतिहास अपनी गति से आगे बढ़ता रहा। नाग, सुपर्ण, यक्ष, गंधर्व, असुर, राक्षस आदि हारते चले गए, लेकिन जिनके पास लोहे के हथियार थे, वे हमेशा विजयी होते रहे।

आगे चलकर पलीते वाली बंदूकें, कारतूस, तोप, बम तथा बमवर्षक वायुयानों ने इतिहास को कीचड़ से गन्दा कर दिया। नाखूनों को धारण करने वाला मानव आज एटम बम पर भरोसा करके आगे बढ़ना चाहता है, लेकिन उसके नाखून तो अब भी बढ़ रहे हैं। प्रकृति मानव को भीतर की पाश्विकता से मुक्त नहीं कर रही। मानव को यह याद दिलाना चाहती है कि लाख वर्ष पहले वह नाखूनों और दाँतों पर निर्भर था। वह पशुओं के साथ मिलकर विचरण करता था। आज भी यह प्रवृत्ति उसमें ज्यों-की-त्यों विद्यमान है। मानव उससे मुक्त नहीं हो पाया।

लेखक अपने मन में विचार करता है कि आज मानव अपने बच्चों को नाखून न काटने पर डांटता है, लेकिन कुछ लाख वर्ष पहले भी वह अपने बच्चों को नाखून काटने पर डांटता होगा। नाखून आज भी जीवित हैं। यह रोज बढ़ते हैं, इन्हें पता नहीं कि आज मानव करोड़ों गुणा शक्तिशाली अस्त्रों का निर्माण कर चुका है। लेखक के अनुसार मानव नाखूनों को इसलिए नहीं चाहता ताकि उसके भीतर बर्बर युग की कोई निशानी न रह जाए, लेकिन नाखून काटने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि मानव की बर्बरता तो निरन्तर बढ़ती जा रही है। हिरोशिमा का हत्याकांड हमें इसी की याद दिलाता है। लेखक जब-जब मनुष्य के नाखून देखता है तो उसे लगता है कि ये मानव की भयंकर पाश्विकता के प्रतीक हैं। मानव की पाश्विकता को कितना भी काट दिया जाए, लेकिन वह नष्ट होना नहीं जानती।

कुछ हजार साल पहले मानव अपने विनोद के लिए नाखूनों का इस्तेमाल करता था। वात्स्यायन के कामसूत्र के अनुसार आज से दो हजार साल पहले भारतवासी अपने नाखूनों को संवारते थे। उन्हें काटने की कला भी काफी मनोरंजक लगती है। त्रिकोण, वर्तुलाकार, चन्द्राकार, दण्डल आदि विभिन्न आकार के नाखून विलासी नागरिकों की उंगलियों पर सुशोभित होते थे। मोम और आलता से रगड़कर उन्हें लाल और चिकना बनाया जाता था। गौड़ देश के लोग बड़े-बड़े नाखूनों को पसन्द करते थे, लेकिन दक्षिण के लोग छोटे नाखूनों को। लेकिन लेखक का विचार है कि भारतवर्ष में अधोगामिनीय वृत्तियों को मानव के अनुकूल बनाया है।

जिन वैज्ञानिकों ने मानव शरीर का अध्ययन किया है उनका कहना है कि मानव मन के समान मानव शरीर की भी अनेक वृत्तियाँ अभ्यास से उत्पन्न होने के कारण ज्यों-की-त्यों रह गई हैं। लम्बे काल से उनका अस्तित्त्व बना हुआ है। अनजाने में ये वृत्तियाँ अपने आप काम करती हैं। नाखून का बढ़ना, बालों का बढ़ना, दाँतों का दोबारा निकलना, पलकों का गिरना आदि कुछ ऐसी ही शारीरिक वृत्तियाँ हैं। लेखक के अनुसार सहजजात ये वृत्तियाँ अनजान की स्मृतियाँ हैं। यदि आदमी अपने शरीर की, मन की और वाणी की अनजाने में घट जाने वाली वृत्तियों के बारे में विचार करे तो उसे अपनी वास्तविक प्रवृत्ति का पता चलेगा। लेकिन मानव इसके बारे में सोचता तक नहीं। यदि हम गहराई से सोचें तो हमें अपने आप पता चल जाएगा कि नाखून बढ़ा लेने की प्रवृत्ति मानव की भीतर की प्रवृत्ति है और यह प्रवृत्ति उसकी पशुता को प्रमाणित करती है। नाखूनों को काटने की प्रवृत्ति मनुष्यता की निशानी है। भले ही पशुता के चिह्न हमारे भीतर रह गए हैं, पर फिर भी वह पशुता को छोड़ चुका है। लेखक का विचार है कि पशु बनकर मानव विकास नहीं कर सकता। उसे पशुता त्यागकर कोई नया रास्ता खोजना चाहिए। इसी प्रकार अस्त्र बढ़ाने की प्रवृत्ति भी मानवता के सर्वथा विरुद्ध है।

लेखक मन-ही-मन चिन्तन करता है कि यह मानव पशुता की ओर बढ़ रहा है या मनुष्यता की ओर। मानव अस्त्र बढ़ाने की ओर अग्रसर है या अस्त्र घटाने की ओर। एक बार पुनः लेखक की बेटी के द्वारा किया गया प्रश्न लेखक को याद आ जाता है। लेखक अपनी बेटी को उत्तर देता हुआ कहता है कि नाखूनों का बढ़ना हमारी पशुता के अवशेष हैं। ये हमारी पशुता की निशानी हैं। इस सन्दर्भ में लेखक अंग्रेजी भाषा के 'इण्डिपेन्डेन्स' शब्द की चर्चा करता है। हिन्दी में हमने इससे 'स्वाधीनता' शब्द का व्यवहार किया, लेकिन 'इण्डिपेन्डेन्स' का अर्थ तो होता है 'अनधीनता' अर्थात् अधीनता का अभाव। हम 15 अगस्त के लिए

'स्वाधीनता' दिवस [illegible] कि उचित नहीं, क्योंकि स्वाधीनता का अर्थ है अपने ही अधीन रहना। जिसे अंग्रेजी में हम 'सेल्फडिपेन्डेन्स' कह सकते हैं। लेखक सोचता है कि हम भारतवासी लम्बे समय से अंग्रेजी का अनुसरण कर रहे हैं, लेकिन फिर भी हम 'इण्डिपेन्डेन्स' को अनधीनता क्यों नहीं कह सके। आजादी के लिए हमने स्वाधीनता, स्वतन्त्रता, स्वराज्य आदि शब्दों का प्रयोग किया, जिनमें 'स्व' शब्द का बंधन विद्यमान है। हैरानी की बात है कि हमारी सुरुचि सभ्यता अनजाने में हमारी भाषा के द्वारा व्यक्त हो जाती है। लेखक एक बार पुनः प्राणि-विज्ञानी की बात को याद कर उठता है। स्वराज्य प्राप्त करने के बाद हमारे नेता और विचारशील नागरिक अब ये चिन्तन करने लगे कि सही अर्थों में देश को सुखी कैसे बनाया जाए। देश के लोग यह बात पहली बार नहीं सोच रहे, बल्कि पहले भी सोचते रहे हैं। द्विवेदी जी के अनुसार भारत का इतिहास बहुत पुराना है और इसके शास्त्रों में इस समस्या के बारे में पर्याप्त चिन्तन हुआ है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति काफी सम्मानित है। हमारी परम्परा महिमामयी है, उत्तराधिकार विशाल है और संस्कार उज्ज्वल हैं। आज भले ही परिस्थितियाँ बदल गई हैं और नए-नए उपकरण विकसित हो रहे हैं और बाधाएँ भी हमारे सामने आ रही हैं। लेकिन मूल समस्याएँ तो ज्यों-की-त्यों हैं। भारतीय मानस आज भी अनधीनता के बारे में न सोचकर स्वाधीनता के बारे में सोचता है। यह हमारे लम्बे काल से चले आ रहे संस्कारों का परिणाम है। मानव 'स्व' के बन्धन को सहज रूप से नहीं छोड़ सकता। 'स्व' का बन्धन हमारी संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है। लेकिन लेखक यह भी नहीं चाहता कि हम भारतवासी अपने पुराने विचारों से चिपटे रहें। मरे हुए बच्चे को छाती से दबाकर चलने वाली बन्दरियाँ हमारा आदर्श नहीं है। परन्तु नई-नई खोजों के चक्कर में हमें अपना सब कुछ पुराना नष्ट नहीं कर देना चाहिए। महाकवि कालिदास ने भी यह घोषणा की थी कि सब कुछ पुराना अच्छा नहीं होता और सब कुछ नया अच्छा नहीं होता। अच्छे लोग वही हैं जो नए-पुराने की जाँच करके वही ग्रहण करते हैं जो हितकर होता है। लेखक भी कालिदास से सहमत प्रतीत होता है।

हमारे देश में अनेक जातियों का आगमन हुआ जो आपस में लड़ती-झगड़ती रहीं, लेकिन अन्त में सभी प्रेमपूर्वक यहीं की बनकर रह गईं। ये जातियाँ सभ्यता की विभिन्न सीढ़ियों पर खड़ी हुई थीं और अलग-अलग दिशा में चलने का प्रयास कर रही थीं। इनके लिए एक सामान्य धर्म बनाना कोई सहज कार्य नहीं था। फिर भी हमारे देश के ऋषियों ने इस समस्या का हल निकालने का भरसक प्रयास किया। फलस्वरूप सभी वर्णों और सभी जातियों के लिए एक सामान्य आदर्श बनाया गया और वह आदर्श है—अपने ही बन्धनों से अपनों को बाँधना। यदि ध्यान से देखा जाए तो मानव पशु से भिन्न नहीं है। आहार-निद्रा आदि पशु सुलभ स्वभाव मानव में भी हैं, लेकिन फिर भी वह पशु जाति से भिन्न है। लेखक लिखता भी है—

''उसमें संयम है, दूसरे के सुख-दुःख के प्रति संवेदना है, श्रद्धा है, तप है, त्याग है। यद मनुष्य के स्वयं के उद्भावित बन्धन हैं। इसीलिए मनुष्य झगड़े-टण्टे को अपना आदर्श नहीं मानता, गुस्से में आकर चढ़-दौड़ने वाले अविवेकी को बुरा समझता है एवं वचन, मन एवं शरीर से किए गए असत्याचरण को गलत आचरण मानता है। यह किसी भी जाति या वर्ण या समुदाय का धर्म नहीं है। यह मनुष्य का मात्र एक धर्म है।''

महाभारत में निर्वैर भाव, सत्य और अक्रोध को सभी वर्णों का सामान्य धर्म कहा गया है। आगे चलकर इन तीनों में दानशीलता को भी जोड़ दिया गया। महात्मा बुद्ध ने भी स्वीकार किया कि सच्चा मानव वही है जो सबके सुख-दुःख को सहानुभूतिपूर्वक देखे। अपने द्वारा बनाया गया बन्धन ही मानव को सही अर्थों में मानव बनाता है। अहिंसा, सत्य और अक्रोध मूलक धर्म का आधार है। लेखक यह सोचकर हैरान है कि अचानक हमारी भाषा में यह भाव कैसे बना रह गया। इसलिए लेखक नाखून बढ़ने पर हैरान हुआ था। अज्ञान हमेशा आदमी को पराजित करता रहा है और आदमी उससे हमेशा लोहा लेता रहा है।

अब लेखक यह प्रश्न उठाता है कि मानव को सुख कैसे मिल सकता है। हमारे नेता लोग कहते हैं कि देश में वस्तुओं की कमी है। इसलिए मशीनें लगाकर उत्पादन को बढ़ाओ और अधिक-से-अधिक धन कमाओ। बाहर के उपकरणों से हमारी ताकत बढ़ सकती है, लेकिन हमारे देश में एक वृद्ध व्यक्ति हुआ था जिसने कहा था कि बाहर की तरफ न देखकर अपने अन्दर देखो—यह व्यक्ति महात्मा गाँधी था। उसने कहा था कि हमें अपने मन से हिंसा को दूर करना चाहिए। मिथ्या (असत्य), क्रोध और द्वेष को दूर करके लोगों के लिए कष्ट सहन करना चाहिए। हम आराम की बात न सोचें। आत्म-सन्तोष की बात सोचें और काम करने की बात सोचें। महात्मा गाँधी ने यह भी कहा था कि प्रेम ही सबसे बड़ी चीज है और वह हमारे भीतर है। उच्छृंखलता पाशविक वृत्ति है। 'स्व' का बन्धन मानव का स्वभाव है। उस वृद्ध की बातें कुछ लोगों को अच्छी लगी और कुछ को अच्छी नहीं लगी। आदमी के नाखून बढ़ने की प्रवृत्ति के कारण उसे गोली मार दी गई। लेखक यह सोचकर हैरान है कि उस वृद्ध व्यक्ति ने बड़ी गहराई में जाकर मानव की सच्चाई का पता लगाया।

6. पगडण्डियों का जमाना : हरिशंकर परसाई

11. 'पगडण्डियों का जमाना' शीर्षक निबन्ध का प्रतिपाद्य अपने शब्दों में लिखो। (Imp.)

अथवा

हरिशंकर परसाई द्वारा रचित 'पगडण्डियों का जमाना' नामक निबन्ध का सार अपने शब्दों में लिखिए।

उत्तर–पगडण्डियों का जमाना : मूल प्रतिपाद्य–श्री हरिशंकर परसाई हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध व्यंग्य लेखक हैं। इस निबन्ध में लेखक ने यह स्पष्ट किया है आज के जमाने में लोग मेहनत रूपी सरल तथा लम्बी सड़क का प्रयोग नहीं करना चाहते, बल्कि वे रिश्वत तथा सिफारिश रूपी पगडण्डियों का प्रयोग करना चाहते हैं, ताकि वे जल्दी-से-जल्दी सफलता प्राप्त कर लें। लेखक ने एक बार फिर ईमानदार बनने की कोशिश की, लेकिन वह असफल रहा। एक बार फिर एक सज्जन लेखक के पास आया और उसने कहा कि वह अपने परिचित अध्यापक से कहकर उसके लड़के के नम्बर बढ़वा दें। यूं तो लेखक उसका काम कर देता है, लेकिन उसे अपने द्वारा हाल ही में की गई प्रतिज्ञा की याद आई जिसके द्वारा उसने ईमानदार बन जाने का प्रण लिया था। सज्जन की बातें सुनकर लेखक को कुछ पुरानी कथाओं की याद आ गई। उसने सोचा कि उसे प्रतिज्ञा किए हुए थोड़ी देर हुई थी कि यह व्यक्ति इन्द्र या विष्णु बनकर मेरी परीक्षा लेने के लिए आ गया है। इन लोगों को यह विश्वास नहीं है कि आज के जमाने में भी लम्बी तपस्या करनी पड़ती है। यूं तो ऐसे लोग भी हैं जो चार कहानियाँ लिखकर युग-प्रवर्त्तकों की सूची में अपना नाम खोजने लग जाते हैं। आखिर लेखक ने सज्जन से कह दिया कि मैं यह अनुचित और अनैतिक काम नहीं कर सकता। लेखक को आशा थी कि सचमुच कोई देवता प्रकट हो जाएगा और प्रसन्न होकर उससे कहेगा कि पुत्र! तू परीक्षा में खरा उतरा है। बोल तुम्हें क्या चाहिए। हम तुम्हें वर देना चाहते हैं। कहो तो 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में तुम्हारे नाम पर एक अध्याय लिखवा दूँ अथवा कहो तो किसी समीक्षक को तुम्हारे घर पर पानी भरने का काम दे दूँ। सचमुच वे सज्जन देवता बनकर ही आए थे, लेकिन

वे क्रोधित हो उठे और जाकर लोगों से लेखक के बारे में कहने लगे कि आजकल वह साला बड़ा ईमानदार बन गया है। लेखक अपनी आत्मा से पूछता है कि क्या गाली खाकर और बदनामी करवाकर मनुष्य ईमानदार बना रह सकता है और आत्मा ने उसे उत्तर दिया कि आज इसकी आवश्यकता नहीं है। लेखक को लगा कि आत्मा ने बड़ी सुलझी हुई बात कही है। लेखक का विचार है कि अच्छी आत्मा फोल्डिंग कुर्सी के समान होनी चाहिए। आवश्यकता हो तो उसे खोलकर बैठ जाए, नहीं तो उसे समेटकर रख दें। इस सन्दर्भ में लेखक पुरानी कथाओं के दानव की चर्चा करता है जो अपनी आत्मा को दूर किसी पहाड़ी में स्थित तोते में रख देता है और बेखटके से दानवी कर्म करता रहता था। मनुष्य और दानव में यही अन्तर है। मनुष्य के पास उसकी आत्मा होती है और दानव के पास नहीं होती। लेखक का कहना है कि आज तो बड़ी गड़बड़ हो गई है। लोग अपनी आत्मा को किसी कुत्ते या सुअर में रख देते हैं। दूसरी ओर जानवर भी बड़े चालाक बन गए हैं। दूसरी ओर कुछ कुत्तों और सुअरों ने अपनी आत्मा को मनुष्य में रख दिया है। तात्पर्य यह है कि आज मानव कुत्तों और सुअरों जैसा व्यवहार करने लगे हैं। अतः अपनी आत्मा का कहना मानकर लेखक ने ईमानदार बनने का विचार छोड़ दिया।

लेखक एक व्यक्ति राधेश्याम का उदाहरण देता हुआ लिखता है कि उसने ईमानदार बनने की कोशिश की, लेकिन वह सफल नहीं हुआ। उसके पास एक छोटी-सी दुकान है। वह बेची गई वस्तुओं का हिसाब लिखकर बिक्री कर (Sales tax) के दफ्तर गया, लेकिन उससे कहा गया कि यह हिसाब झूठा है। राधेश्याम को अपने सच्चे हिसाब को सच्चा मनवाने के लिए रिश्वत देनी पड़ी। तब उसने निर्णय लिया कि वह झूठा हिसाब-किताब लिखेगा और रिश्वत देकर उसे सच्चा मनवा लेगा। सच्चाई के लिए रिश्वत देने की बजाय झूठ के लिए रिश्वत देना अधिक उचित है। इसी प्रकार एक स्त्री नौकरी पाने के लिए एक बड़े आदमी के पास सत्चरित्रता का प्रमाण लेने गई। वह बड़ा आदमी पहले उसको अपने शयनकक्ष में ले जाना चाहता था और बाद में उसे सत्चरित्रता का प्रमाण पत्र देना चाहता था। प्राचीन काल में देवता आदमी बनकर धोखा देते हैं और आज आदमी देवता बनकर धोखा देते हैं। लेखक का कहना है कि प्रत्येक सच्चाई के साथ में झूठ का प्रमाण पत्र है। यदि ईमानदार व्यक्ति के पास भी सिफारिशी पत्र न हो तो उसे कोई नहीं पूछेगा, तब ये सब बातें सोचकर मैंने ईमानदारी को छोड़ दिया और अब मैं खुले मन से लोगों के नम्बर बढ़वाता हूँ।

लेखक महाविद्यालय में प्राध्यापक है। वह लिखता है कि इन दिनों में मुझे बड़े ही स्नेही लोग मिलने के लिए आते हैं, लेकिन ये लोग कभी-कभी ही मिलने के लिए आते हैं। साल में एक-दो बार, उन्हें आते देखकर ही लेखक समझा जाता है कि वह किस काम से आए हैं। जुलाई के पहले सप्ताह में ही जब आकाश में काले बादल छाए हुए होते हैं, नीग्रो सुन्दरी के दाँतों के समान बिजली चमक रही होती है, पृथ्वी पर हरियाली-ही-हरियाली छायी होती है, उस समय लेखक यह समझ जाता है कि जो स्नेही लोग उसके पास आए हैं, वे अपने बच्चों को स्कूल या कॉलेज में भर्ती करवाने में सहायता लेने के लिए आए हैं। इसी प्रकर मार्च के महीने में लोग नम्बर बढ़वाने या 'पेपर आऊट' करवाने के लिए आते हैं। लेखक का विचार है कि सारे 'सिलेबस' और 'प्रोस्पेक्टस' गलत हैं। इनमें नितान्त आवश्यक दो पर्चों का तो कोई जिकर ही नहीं है। पहला पर्चा तो 'पेपर आऊट' करवाने से सम्बन्धित है और दूसरा नम्बर बढ़वाने से। जो विद्यार्थी इन दोनों पंर्चों को अच्छी तरह कर लेता है वह न केवल पास हो जाता है, बल्कि प्रथम दर्जा भी पा सकता है। कुछ प्रतिभावान विद्यार्थी इन दोनों पर्चों को स्वयं कर लेते हैं। ऐसे विद्याथियों का भविष्य निश्चय से उज्ज्वल है, लेकिन जिनके माता-पिता यह काम करते हैं, उनका भविष्य उज्ज्वल नहीं है। लेखक स्वीकार करता है कि वह भी अध्यापक है। इसलिए उसके पास दोनों पक्षों के लोग आते रहते हैं। कल जो आए थे, वे लेखक की बारात में दो साल पहले पहली और आखिरी बार मिले थे। उस छोटी-सी मुलाकात के फलस्वरूप ही वे तत्काल लेखक के पास पहुँच गए, क्योंकि उनका भाई परीक्षा में बैठने वाला था। उन्होंने आकर कहा कि अमुक प्रोफेसर आपके मित्र हैं। उन्होंने पर्चा बनाया है उनसे कुछ हिन्ट दिला दो। लेखक सोचने लगा कि आज मित्रता का प्रयोग यही है कि आवश्यकता पड़ने पर उससे गलत काम करवा लिया जाए। परन्तु यह कोई नहीं कहता कि अमुक व्यक्ति से आपकी मित्रता है, उसे समझाओ कि वह गलत काम न करें। न ही कोई कहता कि अमुक व्यक्ति आपका शत्रु है, उससे 'पेपर आऊट' करवाकर उसका ईमान बिगाड़ दो। लेखक का विचार है कि शत्रु हमेशा सुरक्षित रहते हैं। ईमान तो हमेशा मित्र का ही बिगाड़ा जाता है।

लेखक अपने व्यंग्य को और तीखा बनाता हुआ लिखता है कि पेपर आऊट करवाने वाले और नम्बर बढ़वाने वाले सभी दया के पात्र हैं। सच्चाई तो यह है कि वह सभी घबराए हुए और परेशान लोग हैं। कोई चाहता है कि अगर लड़का पास होगा तो उसे नौकरी पर लगा देंगे और परिवार की बुरी हालत थोड़ी-सी सुधर जाएगी तो किसी व्यक्ति को चिन्ता है कि यदि लड़का फेल हो गया तो वह उसकी पढ़ाई का खर्चा एक साल और कैसे चला पाएगा। कोई चाहता है कि यदि उसकी लड़की पास हो

जाए तो उसकी शादी करके बोझ को थोड़ा हल्का किया जाए। लेखक का विचार है कि ये सभी लोग बड़े दुखी और परेशान हैं। उसका मन करता है कि इन दीन लोगों को गले लगाकर रोया जाए। लेखक की परेशानी का कारण एक और भी है। पहले जमाने में लोग बड़ी परेशानी और संकोच के साथ ये काम करवाते थे, लेकिन अब तो बड़े बेझिझक और निर्लज्ज होकर गलत काम करवाने के लिए आते हैं। दस साल पहले लेखक यह काम करवा देता था। उस समय लोग खुलकर नहीं कहते थे। एक उदाहरण देता हुए लेखक लिखता है कि उसके पास एक ऐसी दबी-छिपी चिट्ठी आई थी—**"अपने दोस्त, रमेशचन्द के भाई सुरेश की मोटर साइकिल जिस पर अंग्रेजी में नम्बर 2431 लिखा है, बिगड़ गई है पर आपके मित्र सिन्हा के पास सुधरने गई है। आप उसे सुधरवा दें कि कम-से-कम 40 प्रतिशत तो काम देने लगे।"** इस चिट्ठी का मतलब यह है कि सुरेश का रोल नम्बर 2431 है तथा उसका अंग्रेजी का पर्चा बिगड़ गया है। सिन्हा साहब पर्चों की जाँच कर रहे हैं। सुरेश को कम-से-कम 40 प्रतिशत अंक जरूर दिलवाने हैं, लेकिन अब तो सीधा पत्र ही आ जाता है। कभी-कभी तो खुला कार्ड तक लिख देते हैं। पहले जमाने में नम्बर बढ़वाने वाले लोग बड़ी देर तक संकोच के साथ बैठे रहते थे, यहाँ-वहाँ की बातें करने के बाद बगलें झाँकते हुए नम्बर बढ़ाने की बात करते थे, लेकिन अब नम्बर बढ़वाने की बातें ऐसे करते हैं कि जैसे बाजार से सब्जी खरीदने के लिए आए हों। यह सब देखकर लेखक परेशान है। लोगों की यह संकोच-हीनता और साहस को देखकर लेखक डर गया है।

अन्त में लेखक स्वीकार करता है कि हमारा समाज यह स्वीकार कर चुका है कि मेहनत और ईमानदारी की आम सड़कें बन्द हो चुकी हैं मानो वहाँ यह तख्ती लगा दी गई है कि सड़क मरम्मत के लिए बन्द है। अब लोग बेईमानी और रिश्वतखोरी की पगडण्डियों पर चले जा रहे हैं। लगातार चलते रहने के कारण पगडण्डियों के काँटे और झाड़ियाँ भी साफ हो गई हैं। धीरे-धीरे ये सड़कें चिकनी और चौड़ी होती जा रही हैं। ईमानदारी की इस आम सड़क पर चलने वाले लोग अब भी पागल कहे जाते हैं। लेखक का विचार है कि आम सड़कों का उपयोग न होने के कारण उन पर झाडियाँ और जंगली पौधे उग जाएँगे। आने वाले काल में पुरातत्त्ववेत्ता ही खोज करके यह बताएँगे कि किसी जमाने में हमारे देश में ईमानदारी की आम सड़कें थीं, लेकिन लोग उन पर चलते नहीं थे। सभी बेईमानी रूपी पगडण्डियों का प्रयोग करते थे। लेखक का विचार है कि सफलता रूपी महल के सामने का आम दरवाजा बन्द हो चुका है। जो लोग उसमें घुस चुके हैं उन्होंने अन्दर से कुण्डी लगा दी है। जो भी उस महल में घुसना चाहता है वह नाक पर रूमाल रखकर नाभदान में से घुस जाता है। यही कारण है कि आसपास सुगन्धित रूमालों की दुकानें सजी हुई हैं। लोग रूमाल खरीदते हैं, उन्हें नाक पर रखकर नाभदान से अन्दर घुस जाते हैं। मतलब यह है कि जो रिश्वतखोरी का रास्ता अपनाते हैं, वे जीवन में सफलता पा जाते हैं। लेकिन चन्द लोग ऐसे भी हैं जो बदबूरूपी बेईमानी को सहन नहीं कर पाते और ईमानदारी रूपी मुख्य द्वार से सफलता के महल में प्रवेश करना चाहते हैं। बाहर खड़े हुए दरवाजे पर अपना सिर पटक रहे हैं और उनके मस्तक से खून बह रहा है।

7. 'अस्ति की पुकार हिमालय' : श्री विद्यानिवास मिश्र

13. श्री विद्यानिवास मिश्र द्वारा रचित 'अस्ति की पुकार हिमालय' नामक निबन्ध का सार अपने शब्दों में लिखिए।

अथवा

'अस्ति की पुकार हिमालय' नामक निबन्ध का प्रतिपाद्य अपने शब्दों में लिखिए। **(Imp.)**

उत्तर–अस्ति की पुकार हिमालय : मूल प्रतिपाद्य–हिमालय का नाम लेते ही लेखक को कालिदास का वह श्लोक याद आता है जिसका आरम्भ "अस्त्युत्तरस्याँ दिशि देवतात्मा", पंक्ति से हुआ। संस्कृत भाषा में तो अस्ति क्रिया के बिना वाक्य पूरा हो जाता है, फिर कालिदास ने **'अस्ति'** शब्द का प्रयोग क्यों किया। उन्होंने अपने अन्तिम ग्रन्थ का प्रथम श्लोक लिखना था और बिना आवश्यकता के उन्होंने इस शब्द का प्रयोग कर दिया। लेखक को लगता है कि या तो हिमालय में कुछ गड़बड़ी है या कालिदास में अथवा हिमालय और कालिदास की धरती में। लेखक इस सन्दर्भ में खोज करना चाहता है। बहुत साल पहले लेखक को स्वर्गीय राहुल जी के साथ रहने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। वे अचानक ही हिमालय के लिए व्याकुल हो उठते थे और वे लेखक से कह उठते थे कि हिमालय उनको बुला रहा है। लेखक को लगा कि राहुल तो वज्रनास्तिक व्यक्ति था। फिर उसे हिमालय क्यों बुलाने लगा। गीता के अनुसार हिमालय साक्षात् भगवान वासुदेव का विग्रह है। वह हिमालय राहुल जी के पास बुलावा क्यों भेज रहा है; लेकिन लेखक अगले ही क्षण यह सोचता है कि हिमालय को अपने देवत्व से बढ़कर अस्ति पर श्रद्धा रखने वाले लोगों का ज्यादा

रहता है। राहुल जी इस अस्ति में विश्वास करते थे और हिमालय को भारतीय जीवन प्रवाह का स्रोत मानते थे। राहुल जी जीवन पर हिमालय न तो भूत था और न ही भविष्य, बल्कि अस्ति ही रहा। इसका मतलब है भारतीय जीवन का प्रवाह की संस्कृति, समाज चेतना आदि सभी कुछ राहुल जी को प्रिय थी। संस्कृत भाषा हिमालय की प्रतिक्रीति थी और अस्ति का थी। संस्कृत भाषा का सर्वश्रेष्ठ कवि कालिदास भी अस्ति रूप था। हिमालय की तलहटी में बसे हुए लोगों की शक्ति का भी वही था। इसलिए राहुल कई आस्तिकों में से बढ़कर आस्तिक थे।

लेखक स्वीकार करता है कि उसने कालिदास के महाकाव्य **''कुमार सम्भव'** को पढ़ा है। यही नहीं, हिमालय की कहानियाँ पढ़ी हैं और हिमालय राजा की लोककथा भी सुनी है, लेकिन उसे राहुल के समान हिमालय से कोई बुलावा नहीं आता। बुलावा मिलता भी है तो लेखक को सुनाई नहीं देता। इसका कहना यह भी है कि आज नगरों में काफी शोरगुल है। पान दुकानों पर दिन-रात रेडियो बजते रहते हैं। कार, मोटर की चिल्लन्पौ होती रहती है। जुलूसों में बेमतलब के नारे होते हैं, लाऊडस्पीकर से हरि नाम संकीर्तन प्रसारित किया जाता है और संगीत का बुखार उतारने वाली फिल्मी धुनों के वृंदगान सुनाई देते हैं। लेखक को लगता है कि जैनेन्द्र कुमार की भाषा के समान लेखक को भी कुछ-का-कुछ हो गया है। लेखक की तो बात क्या करनी है। आस-पास के लोगों को भी हिमालय की अस्ति की पुकार सुनाई नहीं देती। वैसे हम सभी आस्तिकता का निर्वाह करते हुए ब्राह्मणों को अपनी कुण्डली दिखाते हैं, ग्रहों को प्रसन्न करने के लिए रत्न धारण करते हैं। चाहे हम मन्दिर में न जाएँ, लेकिन मंगलवार को हनुमान जी की मूर्ति पर लड्डू चढ़ाने जरूर पहुँचते हैं, मनौतियाँ मानते हैं, भारतीय संस्कृति की बात करते हैं और अशोक तथा कालिदास की चर्चा करके उन्हें प्रसन्न करते हैं, लेकिन सच्चाई तो यह है कि ये सब मात्र धोखा है। हम देवताओं को अफसर या नेता मानते हैं तथा अफसर या देवता को नेता मानते हैं। तरह-तरह के स्थानों की पूजा करते हैं। वस्तुतः हम देवता की पूजा नहीं करते, बल्कि उसके स्थान की पूजा करते हैं। इसी प्रकार हम सभी नेता या अफसर की महिमा का गुणगान करते हैं जो किसी ऊँची कुर्सी पर विद्यमान हैं। देवता की महिमा उसके स्थान के कारण है और नेता या अफसर की महिमा उसकी कुर्सी के कारण है। हम यह भी जानते हैं कि कल ही हमने एक ही व्यक्ति की सात पीढ़ियों का कल्याण किया था, लेकिन आज वह कुर्सी पर विराजमान है। इसलिए हम उसकी आरती उतार रहे हैं। निश्चय से वह हमारे भक्तिभाव के रहस्य को जानता है। हम उसे समझते हैं और वह हमें समझता है। इसी को हम लोकतन्त्र कहते हैं, जिसमें एकनिष्ट श्रद्धा की कोई कीमत नहीं है, बल्कि प्रतिक्षण नया रूप धारण करने वाली श्रद्धा का मूल्य है। इसे हम युग-श्रद्धा भी कह सकते हैं। इसी पैमाने पर हम प्रत्येक देवता का मूल्यांकन करते हैं। जब-जब हम भारत की राष्ट्रीय एकता की बात करते हैं तब-तब हमें नगाधिराज हिमालय की याद आती है। हम दो-चार रस्मी अक्षर उन्हें अर्पित कर देते हैं। इसी प्रकार यदि हमें भारतीय जनता से त्याग की अपील करनी होगी तो श्रीमद्भागवत गीता का उल्लेख करना होगा और भगवान कृष्ण की भी तनिक आराधना करनी होगी। इसी प्रकार यदि हिन्दुस्तान में नारी को गुमराह करना होगा तो हमें शक्ति की आराधना के बोल बोलने होंगे। वस्तुतः अपने स्थान से हटते ही देवता का महत्त्व भी समाप्त हो जाता है।

लेखक व्यंग्य करता हुआ लिखता है कि अब हिमालय पर्वत में भी वह रस नहीं है। इसने भी हमको धोखा दिया। हम तो इसके सहारे सोते रह गए और चीन की सेनाएँ हमारे देश की सीमाओं का एक भाग चट कर गई। हमने तो हिमालय को अपना रक्षक माना था और उसे देश का भाल कहा था। हमने अपना भाग्य उसी पर छोड़ दिया था, लेकिन उसने हमारे लिए कुछ नहीं किया और जब हमारी सुख की नींद टूटी तो पता चला कि हिमालय का जादुई प्रभाव टूट गया है। अब उसे नगपति या विशाल कहना व्यर्थ है। चीनी सेनाओं का भला हो कि वह थोड़ी-बहुत गोला-बारी करके वापिस चली गई, लेकिन उसका आतंक आज भी हमारे ऊपर छाया हुआ है। भारतवासियों ने भी चीनी सेना के आक्रमण को एक बुरा सपना समझकर भुला दिया और वे फिर से सुख की नींद में सो गए। इधर कुछ कवियों ने चीनी आक्रमण के प्रभाव को कम करने के लिए बहुत सारी कविताएँ लिख दीं, लेकिन अब तो हमें ऐसा लगता है कि हार और जीत में कोई फर्क नहीं रह गया है। अब लोग हिमालय के इस विश्वासघात का गम नहीं मनाते। लेखक व्यंग्यात्मक शैली को पुनः अपनाता हुआ फिर कहता है कि भारतवासी सिद्धा अवस्था में पहुँच चुके हैं। इसलिए वे वर्तमान के प्रति चिन्तित नहीं हैं। वे या तो भूत की चिन्ता करते हैं या भविष्य की, वर्तमान की नहीं करते। इसलिए हम अस्ति की भाषा को नहीं समझ पाते।

अस्ति कौन है, किसके लिए है, क्या इसकी चिन्ता हमें नहीं सताती। हिमालय एक पर्वत था, उससे हमें कोई मतलब नहीं है, क्योंकि हम भारतवासी स्वयं अपने में हिमालय के समान हैं। हम हिम के वे आलय हैं जहाँ हमेशा बर्फ जमी रहती है। हम भी बर्फ के समान जड़ बन चुके हैं। लोग ये याद दिलाते हैं कि हिमालय हमारा कुल पर्वत है, बल्कि उसी ने हमारे कुल को जन्म दिया है। लेखक व्यंग्य करता हुआ कहता है कि ये सब बेकार की बातें हैं। यहाँ न तो कोई कुल है और न ही कोई कुल का कर्ता है। यदि कुल की बात की भी जाए, तो हमारे कुल व्यापार में हमेशा तनाव-ही-तनाव रहता है। हमारे यहाँ सास-बहू में, पिता-पुत्र में, भाई-भाई में, नन्द-भौजाई में, भाई-बहन में, देवरानी-जेठानी में हमेशा तनाव-ही-तनाव है। ये तनाव ही हमारा कर्म बन गए हैं। हम सामंजस्य स्थापित करते-करते असामंजस्य में पड़ गए हैं। अब तो मनुष्य को मरने की भी आजादी नहीं रही। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का कोई मतलब नहीं। पुरुषार्थ भी व्यर्थ सिद्ध हो रहा है। लगता है कि जिन्दगी ठहर-सी गई है। जिसमें कुछ चीजें अटक-सी गई हैं जो कि न देशी हैं न विदेशी। लेकिन यह सब जिन्दगी के ठहर का ही परिणाम है। प्रत्येक मानव अपने लक्ष्य पर अधिकार जताता है और दूसरे के लक्ष्य को अशुद्ध मानता है। हर आदमी अपने ढंग से भारतीयता की व्याख्या करने लग गया है। हर आदमी अपनी परिभाषा में फँसा हुआ है और यह सिद्ध करने का प्रयास करता है कि जो कुछ वह कह रहा है, वह सही है और दूसरे जो कह रहे हैं, वह गलत है। अकसर कहा जाता है कि वर्तमान युग अर्थ प्रधान है। सर्वत्र रुपये की ही महिमा है। परन्तु लेखक के अनुसार ये दो शब्दों का समूह है जिससे अर्थ जुड़ा हुआ नहीं है। शब्द ही महत्त्वपूर्ण है जिसके अर्थ की महिमा उसके साथ जुड़ी हुई हो। यही कारण है कि हिन्दुस्तान के सम्पादक हिमालय जैसे विषय पर भी लेख लिखने का आग्रह कर रहे हैं। लेखक हिन्दुस्तान, हिमालय, हिमालय प्रस्त आदि शब्दों का उल्लेख करता है। ये शब्द एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। अगर ये मात्र अर्थ होते तो इनमें टकराव जरूर होता। मिश्र जी का कहना है कि इन शब्दों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये एकता और एकरसता में विश्वास करते हैं। इसलिए इनमें कोई तकरार नहीं होती।

'अस्ति' शब्द का विवेचन–अब लेखक 'अस्ति' शब्द की विवेचना करता है। पाठक 'अस्ति' का अर्थ पूछ सकते हैं। यह केवल शब्द है या कुछ और भी है। लेखक का कहना है कि वह इस प्रश्न का उत्तर क्या दे, क्योंकि यह प्रश्न कांटे के समान उसे हमेशा चुभता रहता है। लाख कोशिश करने पर भी यह कांटा उसके दिल से बाहर नहीं निकलता। लेखक अन्य शब्दों के समान अस्ति पर भी विचार करता है, लेकिन कोई सही उत्तर उसके सामने नहीं आता। वह अस्ति को धुंधले रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। उसके अनुसार अस्ति शब्द हिमालय की तरह उज्ज्वल, उदात्त और मूर्धन्य बनकर जीवन पर छा जाना चाहता है। 'अस्ति' शब्द से बचा नहीं जा सकता। वह तो हमारे आगे भी है, पीछे भी है और हमारे सिर पर भी सवार है। इसी प्रकार यदि हिमालय केवल भूगोल होता तो हम उसे आसानी से भुला सकते थे। यदि इतिहास होता तो भी इससे मुक्ति पाई जा सकती थी और यदि यह चौकीदार होता तो नींद की गोली खाकर इसकी पुकार से हम मुक्त हो सकते थे। पर हिमालय न तो भूगोल है, न इतिहास है, न ही प्रहरी है। यह भूत अथवा भविष्यत नहीं है। यही कारण है कि कालिदास ने 'कुमार सम्भव' में हिमालय का बीज रूप से स्मरण किया। हिमालय गौरी गुरु है तथा देव सेनानी स्कंद के पिता भी हैं। हमारी शक्ति के स्रोत का भी स्रोत है। यह सृष्टि उत्पन्न करने का मूर्तरूप है। इसके सृष्टि उत्पन्न करने के रूप को याद करके बड़ा कष्ट होता है। इससे हमारा जीवनक्रम भी अस्त-व्यस्त हो जाता है। हिमालय के इस रूप को याद करके, इसके अस्ति के रूप के कारण हम जड़ बन जाते हैं। बड़े-बड़े प्रगतिशील कहलाने वाले भी घबरा जाते हैं। यही कारण है कि लेखक हिमालय के अस्ति रूप से पाठकों को परिचित करवाना चाहता है। उसे यह जानकर दुःख होता है कि अस्ति की पुकार अब हम तक पहुँचती ही नहीं। अब किसी भी भारतवासी को देश का दर्द नहीं होता। देश की तो बात ही क्या करनी है, हमें किसी भी चीज का दर्द नहीं होता। यह दर्द न होना भी एक प्रकार का कष्ट है। यह भी एक प्रकार का अस्ति है। निषेध के प्रकाश के कारण अस्ति का रूप कुछ-कुछ काला पड़ गया है और यह बड़ा ही भयानक और डरावना दिखाई दे रहा है। आज अस्ति की पुकार उल्टी दिशा में जा रही है।

लेखक एक कहानी की चर्चा करता है कि शिव की बारात हिमालय में ऐसी जम गई और खिलाने-पिलाने में समृद्ध हिमालय पर्वत की सारी धन-दौलत खर्च हो गई। दहेज देने के लिए हिमालय के केवल 52 हंड़ा सुहाग ही बचा। पार्वती उसे ही लेकर पति के घर के लिए चल पड़ी। पति के घर न सास थी न ससुर न ननद-भौजाई, वाहन के रूप में एक बैल था और भांग पीने वाला पति, लेकिन साथ में 52 हंडा सुहाग अवश्य था, लेकिन पतिव्रता नारियों ने घमण्ड के कारण इस सुहाग को नहीं भोगा, लेकिन निचली जातियों की स्त्रियों ने इस सुहाग को भोगा और पार्वती ने मुक्त भाव से यह सुहाग उनको दिया। लेखक का विचार है कि